निबन्धादर्श

विचार-भाग

१—प्रवेश

वाणी हमारे हृदय-कमल की सौरभ है। हमारे मनरूपी [illegible] मुरली है। उसकी स्वर-लहरी में विश्व-संगीत का [illegible] है। वह हमारे मुख-मण्डल की आभा; हमारे [illegible] -हंसिनी है। नीर-क्षीर का विवेक वही [illegible] गुण-अवगुण की धरती पर विचरती है। [illegible] भाषा के रूप में वही हमारी सभ्यता तथा [illegible] जननी है। उसका उज्ज्वल वेश और विकसित वदन ही हमारा ध्येय तथा गेय है।

हमारे मनोभावों की अभिव्यक्ति का साधन वाणी ही है। इसलिए हमें संसार के सामने अपने को अपने निर्मल रूप में रखने के लिए वाणी की विमलता तथा साधुता का महत्व समझ लेना चाहिए। जो शब्द हमारे मुख से निकलते हैं, उन्हींसे लोग अनुमान करते हैं कि हम क्या हैं और कैसे हैं; उन्हींसे हमारा

निबन्धादर्श

विचार-भाग

१—प्रवेश

वाणी हमारे हृदय-कमल की सौरभ है। हमारे मनरूपी कृष्ण की मुरली है। उसकी स्वर-लहरी में विश्व-संगीत का सन्देश गूँज रहा है। वह हमारे मुख-मण्डल की आभा; हमारे भाव-मानस की कल-हंसिनी है। नीर-क्षीर का विवेक वही करती और हमारे गुण-अवगुण की धरती पर विचरती है। मानव-जाति की भाषा के रूप में वही हमारी सभ्यता तथा संस्कृति की जननी है। उसका उज्ज्वल वेश और विकसित वदन ही हमारा ध्येय तथा गेय है।

हमारे मनोभावों की अभिव्यक्ति का साधन वाणी ही है। इसलिए हमें संसार के सामने अपने को अपने निर्मल रूप में रखने के लिए वाणी की विमलता तथा साधुता का महत्व समझना चाहिए। जो शब्द हमारे मुख से निकलते हैं, उन्हींसे लोग अनुमान करते हैं कि हम क्या हैं और कैसे हैं; उन्हींसे हमारा

गौरव तथा लाघव प्रकट होता है; वे ही हमारी पुण्य-प्रतिष्ठा के जनक होते हैं। शब्दों की शक्ति अपार है। इसीके बल से भगवान् वेदव्यास, वाल्मीकि, पतञ्जलि, कणाद, कालिदास, तुलसी, शेक्सपियर आदि ने मानव-समाज का अनन्त उपकार किया। भाव-सुरसरी की धारा को जिधर चाहे उधर बहा ले जाना शब्द-भगीरथ का ही काम है। अतएव शब्द-शक्ति की संप्राप्ति भगीरथ-परिश्रम के बिना नहीं हो सकती। धैर्ययुक्त तपस्या से ही वाणी प्रसन्न होती है; वाणी की प्रसन्नता से ही निर्मल ज्योति मिलती; और तभी विविध प्रबन्ध सूझते हैं।

निबन्ध हमारे मनोभावों की प्रतिमूर्ति होता है, जिसे हम लिखित वाणी द्वारा व्यक्त करते हैं। यदि उसीको हम कथित वाणी द्वारा प्रकट करें, तो वह भाषण अथवा व्याख्यान कहा जाता है। जिस प्रकार किसीका चित्र उतारते समय फ़ोटो का शीशा जितना अधिक निर्मल होगा, चित्र भी उतना ही स्पष्ट उतरेगा, उसी प्रकार हमारे हृदय के शीशे में भी जितनी अधिक विमलता होगी, उतने ही अधिक स्पष्टरूप में हमारे भाव चित्रित हो सकेंगे। इसीलिए निबन्ध में लेखक के भावों का फ़ोटो रहता है। भावों की गहराई अथवा उथलापन प्रत्येक व्यक्ति की सम्पत्ति है—उसका सम्बन्ध अपने-अपने चरित्र से है। जिसके चरित्र में जितनी ऊँचाई है, उसके भाव उतने ही ऊँचे और जितनी नीचाई है, उतने ही नीचे निकलेंगे। हमारे चरित्र की यह

छाप हमारे एक-एक शब्द और एक-एक ध्वनि पर सदैव लगी रहती है। प्रातःवन्द्य गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस के प्राणस्वरूप अयोध्या-सोपान के आदि में लिखा है—

"श्रीगुरु-चरन-सरोज-रज, निज मन-मुकुर सुधारि।
बरनउँ रघुबर बिमल जसु, जो दायकु फल चारि।"

देखिए, आचार्य तुलसीदास किस प्रकार अपने मन के शीशे को गुरु के चरणों की धूल से निर्मल करके मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र का 'विमल यश' वर्णन करने चले हैं। इसी प्रकार हमारी रचना चाहे छोटी हो चाहे बड़ी, हमें अपना 'मन-मुकुर' निर्मल करके अपने भाव व्यक्त करने चाहिएँ। हम जो कुछ लिखें, उससे पढ़नेवाले भी वही समझें जो कि हमारा अभिप्राय है। आरम्भ से ही इस सच्चे मार्ग पर चलने से परिश्रमी लेखक लिखते-लिखते सफल-मनोरथ हो सकता है।

२—साधन

गरुड़, हवा से भीअधिक वेग से, जहाँ चाहे वहाँ जा सकता है, यह जानकर क्या चींटियों को अपना मन्द परिश्रम छोड़ देना चाहिए ? नहीं, प्रकृति ने न तो सब को एक-सी शक्ति ही दी है और न वह सबसे समान कार्य की आशा ही करती है। अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार काम करना ही प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। अच्छे साधनों द्वारा वही शक्ति विकसित होती

और बड़े-बड़े काम करती है तथा बिना शुभ साधनों के वही कुण्ठित होकर निकम्मी हो जाती है।

प्रकृति का अटल नियम है कि वह जीवमात्र को ज्ञात से अज्ञात की ओर ले जाती है, अर्थात् हम जो कुछ जानते हैं, उसी के सहारे से वह हमें अनजानी बातों का बोध कराती है। यही नैसर्गिक नियम, निबन्ध लिखना सीखने की कुञ्जी है। बच्चा जब पैदा होता है, तब वह बोलना नहीं जानता और न अपनी दृष्टि ही किसी एक पदार्थ पर जमा सकता है। संसार में आँख खोलते ही वह चकित होकर इधर उधर देखता है। समय बीतने पर धीरे-धीरे सब कुछ सीख लेता है। ठीक यही दशा नौसिखिये लेखक की होती है। निबन्ध लिखना सीख लेना एक दिन का काम नहीं। भाषा मँजते-मँजते ही मँजती है और भाव उठते-उठते ही उठते हैं। परन्तु यदि हमारे ज्ञानार्जन के द्वार—हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ—सचेत रहें, तो हमारा ज्ञान-भण्डार स्वाभाविक रूप से ही बहुत कुछ बढ़ता रहता है।

१—ज्ञानेन्द्रियाँ

निबन्ध की सामग्री जुटाने का सबसे पहला साधन हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, जो जन्म से ही हमारा साथ देती हैं, उनमें भी आँख सब से प्रधान है। आँख के ही द्वारा हम प्रकृति के अनन्त-सौन्दर्य का अवलोकन करते, उसे हृदय में बिठाते और मस्तिष्क के तन्तुओं द्वारा उसका प्रभाव स्मरण-शक्ति को सौंपते हैं।

सुनना, सूँघना, चखना और छूना भी अनेक प्रकार से हमें पदार्थों का गुण-बोध कराते हैं। इसलिए, प्रतिक्षण हमारी आँखें खुली हुई रहें, अर्थात् हमें सूक्ष्म निरीक्षण करने का, बारीकी से देखने का स्वभाव पड़ जाय, तो हमारे हृदय-पट पर बाहरी जगत् का जो चित्र बनेगा, वह बहुत स्पष्ट होगा। जब तक हमें स्वयं किसी बात का स्पष्ट बोध न हो, हम दूसरे को किस प्रकार समझा सकते हैं? इस प्रकार बारीकी से देखने से हमारा ध्यान भी एक ओर लगा रहता है और हमारी मेधा (धारणावती बुद्धि) भी विकसित होती है। जब तक हम ध्यानपूर्वक किसी पदार्थ का सूक्ष्म निरीक्षण न करें, हमारे लिए उसका पूरा ज्ञान होना असम्भव है।

२—भ्रमण

बाहरी जगत् को हम जितना अधिक देखें-भालेंगे, उतना ही अधिक हमारे ज्ञान का गोला बढ़ता जायगा—उसकी परिधि में भिन्न-भिन्न विषयों का समावेश होता जायगा। इसलिए पर्यटन करना ज्ञानार्जन का दूसरा परमावश्यक साधन है। स्थान-स्थान में घूमने-फिरने से हमारे ज्ञान-कोष में जो-जो नई बातें बढ़ती हैं, वे हमारी निज की प्राप्त की हुई होती हैं। उनके लिए पुस्तक पढ़ने, अथवा गुरु की सेवा में समय बिताने की आवश्यकता नहीं होती। बीच का यह समय बचने के साथ-साथ उन बातों का प्रभाव भी हमारी स्मरण-शक्ति पर चिर-स्थिर रहता है। हम

पदार्थों के रूप को ज्यों का त्यों समझ लेते हैं। उदाहरण के लिए; जिस मनुष्य ने कभी पहाड़ अथवा समुद्र नहीं देखा है, उसे अनेक नमूने दिखाने तथा सरल से सरल ढंग से समझाने पर भी उनका यथार्थ बोध नहीं हो सकता। हिम से ढकी हुई और आकाश को छूती हुई तथा नीले-नीले गगन में शान्त भाव से खड़ी हुई ऊँची-ऊँची चोटियों, अथवा कल-कल-ध्वनि करके आलिङ्गन-सा करती हुई कोमल, लोल लहरों तथा ऊँची उठती हुई तरल तरङ्गों का आभास केवल कानों द्वारा किस प्रकार हो सकता है? वह आँख ही का काम है। अन्य बहुत से दृश्य तो ऐसे होते हैं कि उनका सम्बन्ध देखने ही से है; वे वर्णन से परे हैं। वहाँ तो "गिरा अनयन नयन बिनु बानी", ही कहना पड़ता है। सच तो यह है कि पर्यटन करने से जो सहायता हमारे भावों के विकास और कल्पना की उड़ान को मिलती है, वह और किसी तरह मिल नहीं सकती। इस व्यावहारिक ज्ञान द्वारा हमारा अनुभव दिन पर दिन पुष्ट होता और विस्तार पाता जाता है। हमें निरीक्षण करने के एक से एक अनूठे अवसर प्राप्त होते हैं। हृदय में आनन्द की हिलोरें उठतीं और हमारा जीवन सुखमय बनाती हैं। सांसारिक पदार्थों का जीता जागता चित्र हमारे सामने खड़ा हो जाता और सूक्ष्म-निरीक्षण के द्वारा जीवन-रहस्य के पट भी हमारी आँखों के सामने खुल जाते हैं।

३—स्वाध्याय

भ्रमण करने के साधन सब को सुलभ नहीं। उनके लिए धन चाहिए, अवकाश चाहिए, साहस चाहिए और चाहिए साथियों का सुयोग। परन्तु छोटी-छोटी यात्राएँ—मेले, प्रदर्शनी आदि के अवसर का उपयोग सुगमता से किया जा सकता है। जिनके पास इन साधनों का अभाव अथवा कमी है, उनके लिए तीसरा साधन स्वाध्याय है। अच्छे-अच्छे ग्रन्थों का पढ़ना केवल उन्हींके लिए आवश्यक नहीं, जिनको कि भ्रमण करने का अवसर प्राप्त नहीं होता, वरन् भ्रमण करनेवालों के लिए भी अनिवार्य-सा है। ग्रन्थों के अध्ययन से उनमें तुलना करने की शक्ति बढ़ती और अपने अधूरे निरीक्षण की पूर्ति का भी मार्ग मिलता है। भिन्न-भिन्न पहलुओं से किसी पदार्थ की जाँच-पड़ताल के नये पंथ सूझते और अपने भावों को व्यक्त करने का उत्साह उत्पन्न होता है। परन्तु स्वाध्याय के लिए भी बहुत सतर्क होकर आगे बढ़ना चाहिए। आजकल के बढ़ते हुए साहित्य के युगमें नया विद्यार्थी सहज ही यह नहीं जान सकता कि किस पुस्तक के पढ़ने में उसका हित और किसके पढ़ने में अहित है। भाषा और भावों की दृष्टि से उत्तम और अच्छा प्रभाव डालनेवाले ग्रन्थों के चुनाव में हमें आरम्भ से ही किसी अच्छे गुरु की शरण में जाना होगा। यदि ऐसा गुरु हमारे माता, पिता, भाई आदि में ही कोई मिल जाय, तो सौभाग्य ही समझिए, नहीं तो बड़ी सावधानी के साथ

उसकी खोज करनी चाहिए। स्मरण रखिए, स्वार्थी और निकम्मे लेखकों ने साहित्य सुरसरी को भी गन्दा करने की चेष्टा में कमी नहीं की है। ऐसे लोलुप लेखकों की दृष्टि में साहित्यिक पवित्रता का कुछ मूल्य नहीं। अबोध विद्यार्थियों की पवित्र भाव-भूमि में गन्दे और गले-सड़े बीज बोते उन्हें लज्जा नहीं आती। इसलिए शुद्ध साहित्य का पढ़ना अपना परम कर्त्तव्य समझिए। भूलकर भी गन्दा साहित्य हाथ में न आने दीजिए। उसे महा-विष समझ कर छोड़ दीजिए। संसार के महापुरुषों के जीवन-चरित, सभ्य और उन्नत जातियों के गौरव-पूर्ण तथा उदार इति-हास और वीर-गाथाएँ, सच्चे और स्वास्थ्य-प्रद सुन्दर वर्णन तथा यात्रा-वृत्तान्त और वैज्ञानिक लेख पढ़िए। इन्हीं के द्वारा धीरे-धीरे आप स्वयं शुद्ध और अशुद्ध की पहिचान करने लगेंगे। ग्रन्थावलोकन का स्वभाव बनाइए और अपनी शङ्काओं का किसी सच्चे गुरु के चरणों पर शिर रखकर निवारण कीजिए। निर्मल निरीक्षण के बल से अपने पढ़े हुए ग्रन्थों में सार वस्तु का ग्रहण कीजिए और मनोयोग के साथ गम्भीरतापूर्वक अध्ययन कीजिए। केवल किताबों के कीड़े न बनिए।

अपने दैनिक जीवन में भी इस बात का ध्यान रखिए कि आप जिस प्रकार के वायु-मण्डल में विचरते हैं, वह पवित्र हो। आपकी संगति आपकी बैठक उठक और आपके सभा-सम्मे-लन ये सब आपके भाव और भाषा पर अपना प्रभाव छोड़ते हैं।

दोषों से दूर हटना और गुणों का ग्रहण करना, अथवा दूषित भाषा का परित्याग और साधु भाषा से अनुराग, आपके अपने नैतिक बल पर निर्भर है। सामाजिक संस्कार और आचारिक व्यवहार, हमारे शिष्टाचार-सम्बन्धी भावों को ढालनेवाले साँचे होते हैं। इसलिए ये संस्कार भी यों ही नहीं छोड़े जा सकते। आपकी रचनाओं में इन भावों की रेखाएँ भी प्रतिलक्षित होती हैं।

३—भाषा और उसका साहित्यिक रूप

भाषा भावों की ध्वनिमयी मूर्ति है। भाव उसका प्राण है। अथवा भाषा अखिल विश्व की हृत्तन्त्री की झङ्कार है। विश्व के हृदय की गति के साथ-साथ भाषा की गति-विध में भी उसीके अनुरूप परिवर्त्तन होता रहता है। उच्चारण की सुविधा, नये-नये आविष्कार, सामाजिक हेलमेल का विस्तार, परिवर्त्तित रुचि और नवीनता का प्रेम इत्यादि के कारण भाषा का स्वरूप सदैव नया रूप धारण करता रहता है। फिर कभी-कभी ऐसा युग भी आता है कि कोई प्रभावशाली लेखक अथवा एक लेखक-मण्डल अपनी लेखनी के चमत्कार से भाषा के प्रवाह को एक नई दिशा में बहा देता है। इस प्रकार युग-विशेष में भाषा भी अपना विशेष रूप रखती है, जिसका अध्ययन लेखक का कर्तव्य है।

भाषा के साहित्यिक, सांवादिक और ग्राम्य स्वरूप का अन्तर जान लेना भी कम आवश्यक नहीं। साहित्यिक स्वरूप वह है, जिसका प्रयोग उच्चकोटि के लेखक करते हों। सांवादिक स्वरूप वह है, जिसका प्रयोग शिक्षित-समाज द्वारा बोलचाल में किया जाय और ग्राम्य स्वरूप वह है जिसमें अशिक्षित जनता अपने भाव प्रकट करे। सुलेखकों का आदर्श साहित्यिक भाषा ही होती है।

अब हमें साहित्यिक स्वरूप के शब्दों, वाक्यों, परिच्छेदों (Paragraphs) और निबन्ध अथवा रचना के आवश्यक अङ्गों की ओर भी एक दृष्टि डाललेना चाहिए।

शब्द

शब्द की शक्ति के विषय में हम पहले लिख चुके हैं। वही शब्द लेखक का शस्त्र है। उसका कुशल प्रयोग न जानने से कोई लेखक लक्ष्य-भेद नहीं कर सकता। यों तो एक ही अर्थ के बतानेवाले अनेक शब्द होते हैं, परन्तु प्रत्येक शब्द की आत्मा अलग है। उसकी पहिचान के बिना शब्द का प्रयोग ठीक-ठीक नहीं हो सकता। जैसे; मेघ, पायोधर, बादल, वारिवाह, धाराधर ये शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। परन्तु 'धाराधर' कहने से मानों मूसलाधार मेंह की झड़ी का दृश्य सामने आ जाता है, तो 'वारिवाह' से हवा में उड़ते हुए रुई के गोलों के सदृश मेघों की दौड़ आँखों के आगे दौड़ लगा जाती है। 'पायोधर' से प्यासे

पपीहे की भाँति आँखें ऊपर को उचकने लगती हैं, तो 'बादल से घुमड़ती हुई घटाओं के दल-बादल उमड़े चले आते हैं। 'मेघ' में एक प्रकार की गम्भीरता छिपी हुई है। इसी प्रकार प्रत्येक शब्द भाव की किसी विशेष बारीकी की ओर सङ्केत करता है। कुशल लेखक शब्दों की इस कोमलता का सदैव ध्यान रखता है। स्मरण रखिए—

"जिस प्रकार समग्र पदार्थ एक दूसरे पर अवलम्बित है, ऋणानुबन्ध हैं, उसी प्रकार शब्द भी; ये सब एक ही विराट् परिवार के प्राणी हैं। इनका आपस का सम्बन्ध, सहानुभूति, अनुराग-विराग जान लेना; कहाँ कब एक की साड़ी का छोर उड़कर दूसरे का हृदय रोमाञ्चित कर देता; कैसे एक की ईर्ष्या अथवा क्रोध दूसरे का विनाश करता, कैसे फिर दूसरा बदला लेता, कैसे ये गले लगते, बिछुड़ते; कैसे जन्मोत्सव मनाते तथा एक दूसरे की मृत्यु से शोकाकुल होते—इनकी पारस्परिक प्रीति-मैत्री, शत्रुता तथा वैमनस्य का पता लगा लेना क्या आसान है?"

['पल्लव' से]

शब्दों की यह वंशोत्पत्ति स्वाध्याय और अभ्यास से ही धीरे-धीरे जानी जाती है। आरम्भ में विद्यार्थी को चाहिए कि वह सुलेखकों की भाषा में इस बात को ध्यानपूर्वक देखता जाय कि वे किस अवसर पर किस शब्द का प्रयोग करते हैं। शिष्ट-

समाज में बातचीत सुनते समय भी वह शब्दों का ठीक-ठीक प्रयोग सीखने की चेष्टा करे।

वाक्य

जब शब्दों का कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाय, तभी से वाक्य—रचना की शुद्धता और सुन्दरता की ओर रुचि उत्पन्न होनी चाहिए। वाक्य-योजना में नीचे लिखी हुई बातें ध्यान देने योग्य हैं :—

(१) व्याकरण की स्पष्टता—पहली बार पढ़ते ही वाक्य की व्याकरण-सम्बन्धी रचना स्पष्ट समझ में आ जाय।

(२) विस्तार—वाक्यों का विस्तार विविध प्रकार का होना चाहिए। कोई वाक्य बहुत लम्बा तो कभी न हो और बहुत छोटा भी बहुत कम।

वाक्य बहुत लम्बा होने से आँखों की वही दशा हो जाती है जो किसी चित्रशाला में जल्दी-जल्दी चलनेवाले व्यक्ति की होती है। उसकी दृष्टि एक चित्र से दूसरे पर शीघ्र ही पहुँच जाती है, और किसीका भी पूर्णभाव वह नहीं समझ सकता। इसके विपरीत, ठहर-ठहर कर चलने से वह अपना ध्यान प्रत्येक चित्र पर जमा सकता है। इसी प्रकार छोटे-छोटे वाक्यों से लेखक के अर्थ की स्पष्टता का बोध शीघ्र हो जाता है। लम्बे-लम्बे वाक्यों में प्रायः व्याकरण की भूलें भी हो जाने की सम्भावना रहती है।

और पाठक का चित्त शब्दाडम्बर में ऐसा उलझ जाता है कि वह एक शब्द से दूसरे पर जाने की धुन में लेखक के अर्थ को भूल ही सा जाता है।

(३) आश्रित वाक्य-खण्ड—किसी वाक्य में जोड़े हुए अन्य वाक्य-खण्ड उसे बोझिल तथा शिथिल बनाने के कारण होते हैं। इसलिए वे, जहाँ आवश्यक हों, प्रधान वाक्य में इस प्रकार गूंथे जायँ कि जब तक सम्पूर्ण वाक्य समाप्त न हो जाय, उसका व्याकरण-सम्बन्ध पूरा न हो।

(४) संतोलन—लम्बे वाक्यों की रचना में, जहाँ सम्भव हो, उनके अंग-अंग में ऐसी अनुरूपता हो कि प्रत्येक वाक्य उचित रूप से नपा तुला जान पड़े। एक अंग भारी और दूसरा हलका होने से वह लड़खड़ाता हुआ न दिखाई दे।

(५) एकता—एक वाक्य में केवल एक ही विचार व्यक्त किया जाय, उससे विभिन्न और कोई भाव न आने पावे।

(६) क्रम—साधारणतया व्याकरण के नियमों का पालन किया जाय, किन्तु जहाँ आवश्यक हो वहाँ परिवर्तन भी कर दिया जाय, जिससे कि सबसे प्रधान शब्द वाक्य के आदि वा अन्त में रखे जा सकें।

(७) अन्वय वा सङ्गति—जहाँ विशेषण, व्याख्या अथवा परिणाम-सूचक वाक्य-खण्ड प्रधान वाक्य में जोड़े जायँ, वहाँ वे समुचित संयोजक शब्दों द्वारा मिलाये जायँ।

परिच्छेद (Paragraph)

परिच्छेद के विस्तार के विषय में कोई कठोर नियम नहीं बनाया जा सकता। जिस प्रकार हमें किसी वस्तु के रखने के लिए उतनी ही बड़ी पिटारी की आवश्यकता होती है ? जितनी में कि उस वस्तुका आकार समा जाय, उसी प्रकार प्रत्येक परिच्छेद उतना ही बड़ा होना चाहिए, जितने में केवल एक विचार विकसित होकर आ जाय। इसके लिए इन बातों का विचार रखा जाय :—

(१) एकता—परिच्छेद में केवल एक विचार का विकास हो।

(२) सार—परिच्छेद का आरम्भ ऐसे वाक्य से हो जो उसका सार रूप हो, जिससे कि उसका अभिप्राय खुल जाय ; अथवा परिच्छेद हमें किसी सार वस्तु की ओर ले जाय और उसका अन्त उसी सार-वाक्य से हो।

(३) अन्वय वा सङ्गति—परिच्छेद से यह प्रकट हो जाय कि वह उस एक ही विचार-शृङ्खला का क्रमबद्ध और यौक्तिक विकास है, जो कि उसमें प्रमुख भाव से भली भाँति जुड़ी हुई है।

रचना

रचना वास्तव में लेखक के हृदय का संन्देश होती है। उसकी अन्तर-ध्वनि एक ही होती है—वह एक ही मूल-भाव पर

टिकी रहती है। वह भाव जितने निर्मल स्रोत से निकलेगा, जितनी अबाध गति से वह बहेगा, जितनी अधिक स्वाभाविकता उसमें होगी, रचना की स्रोतस्विनी नदी उतनी ही मनोहारिणी और सुरम्य होगी। संक्षेपतः उसके विचारणीय अंग ये हैं :—

(१) एकता—समष्टि रूप से रचना में एक ही प्रमुख भाव होना चाहिए जो उसके अंग-अंग में व्याप्त हो। यह भाव आरम्भ ही में व्यक्त कर देना अच्छा है।

(२) विश्लेषण—इस प्रमुख भाव का विश्लेषण (अंगों को अलग-अलग करके दिखाना) वैज्ञानिक रीति से उसके अंगों और उपाङ्गों में होना चाहिए, जिससे रचना के भीतरी भागों में उनका पृथक् विचार किया जा सके। जैसे; किसी ग्रन्थके सर्ग, सोपान, अध्याय, पाठ, प्रकरण आदि।

(३) सङ्कलन—इन अलग अलग भागों को ऐसे क्रम से रखा जाय कि उनका पारस्परिक सम्बन्ध भी स्पष्ट हो और वे सम्पूर्ण रचना से सु-सम्बद्ध हों। जैसे; किसी विशाल भवन के दरवाज़े, खिड़की, बरामदे, छज्जे, कँगूरे आदि।

रचना हृदय के उद्गारों की अभिव्यक्ति है। उसे विविध रीतियों से व्यक्त कर सकते हैं, तो भी उसके दो मुख्य भेद हैं, (१) गद्य (२) पद्य। गद्य में व्याकरण के वाक्य-रचना सम्बन्धी नियमों के अनुसार शब्दों का स्वाभाविक क्रम रहता है और

पद्य में लय-प्रधान अलंकृत क्रम होता है। गद्य सामान्य वार्तालापका स्वाभाविक माध्यम है और पद्य उत्कृष्ट कल्पनाओं का।

इस पुस्तक में केवल गद्यमय रचना का ही वर्णन अभीष्ट है और उसमें भी विशेषकर पाठशाला सम्बन्धी निबन्धों का। इसलिए गद्य के भेदों पर विचार करने के पूर्व रचना के विषय पर भी थोड़ा-सा विचार कर लेना अनावश्यक न होगा।

४—विषय

निबन्ध के विषय की सीमा और लेखक की शक्ति, दोनों में जबतक सामञ्जस्य न हो, तबतक लेख अच्छा नहीं हो सकता। आरम्भिक लेखक के लिए छोटे-छोटे वर्णन सरल और सीधी भाषा में लिखना ही बहुत है। यदि उसे दया, साहस, क्रोध आदि विषय लिखने के लिए दिये जायँ, तो उसका मन रूखे सूखे विषयों से ऊब जायगा और वह लेख लिखने को बड़ा कठिन काम समझने लगेगा। इसलिए निबन्ध लिखने का आरम्भ नित्य प्रति की देखी हुई वस्तुओं के वर्णन और छोटी-छोटी रोचक कहानियों के दुहराने तथा लेखन से होना स्वाभाविक और सुकर है। बचपन से इस प्रकार का स्वभाव डालना मानों खेल खेल में लेख लिखना सिखाना है। आगे चलकर लेख में बल लाना, भावों को समास रूप में व्यक्त करना, भाषा में लालित्य लाना आदि गुण रुचिवर्धन के साथ साथ अपने आप आने लगते हैं।

प्रत्येक विषय की एक सीमा होनी चाहिए। उस सीमा की परिधि को अच्छी तरह देखकर और अपनी शक्ति को तौलकर ही लेखनी उठानी चाहिए। जैसे ; 'मेला' विषय पर जो लेख होगा, उसमें मेलों का इतिहास, उनका प्राचीन तथा आधुनिक रूप, धार्मिक सम्बन्ध आदि अनेक बातें आ जायँगी। परन्तु रामलीला का मेला' अथवा 'अलीगढ़ की रामलीला का मेला' किंवा 'सरयू-तरण का दृश्य' इन लेखों में विषय सीमित तथा परिसीमित हो जायगा और उसका लिखना सुकर होगा। लेखक की कक्षा तथा योग्यता के अनुसार ही निबन्ध की सीमा निर्धारित कर लेना उचित है।

५—निबन्ध-भेद

यों तो ऐतिहासिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक, तुलनात्मक, वर्णनात्मक आदि अनेक प्रबन्ध-भेद कहे जा सकते हैं। जिस दृष्टिकोण से किसी विषय-विशेष को लिखा जाय, उसी उद्देश-विशेष से उसे एक अलग नाम दिया जा सकता है। परन्तु, साधारणतया निबन्ध में चार बातें प्रधान होती हैं,—वर्णन, कथा, व्याख्या और तर्क। इन्हीं चारों के आधार पर निबन्ध के मुख्य चार भेद किये जाते हैं, वर्णनात्मक, कथात्मक, व्याख्यात्मक और तार्किक। अन्य-अन्य प्रकार के निबन्धों का समावेश किसी न किसी रूप में इन्हीं के अन्तर्गत हो जाता है।

वर्णन

वर्णन में लेखक का उद्देश यह रहता है कि वह उस दृश्य को, जो कि उसकी आँखों अथवा मस्तिष्क में घूम रहा है, शब्दों में निकाल कर रख दे। साधारणतया किसी दृश्य पदार्थ का निरूपण करना वर्णन कहा जाता है, परन्तु इसमें यात्राएँ दैनिक वृत्त (Diaries), उपन्यास आदि की भी गणना है। और अवसर-अवसर पर तो सभी प्रकार के निबन्धों—विशेषकर पद्य—में इसका उपयोग होता है। आगे चलकर वे विषय भी इसमें आते हैं, जिनका सम्बन्ध बुद्धि तथा भावनाओं से है।

वर्णन के अङ्ग

उच्च कोटि के लेखकों के वर्णन में ये बातें पाई जाती हैं,—(१) स्थूल वर्णन (२) विस्तार (३) विविध विचार-कोण (४) संगत भाव (५) प्रस्ताव।

(१) स्थूल वर्णन (Outline)—प्रायः लेखक वर्णनीय विषय की एक व्यापक बाह्य रेखा बनाकर लेख आरम्भ करता है।

(२) विस्तार (Details)—इसके पश्चात् वह पृथक्-पृथक् भागों का सविस्तर वर्णन करता है। इसमें वह इस बात का ध्यान रखता है कि जो बात जितनी अधिक प्रधान हो, उस पर उतना ही अधिक बल रहे।

(३) विचार-कोण (Points of view)—कभी-कभी समस्त वर्णन का और भी अधिक व्यापक रूप दिखाने के लिए वह उसे भिन्न-भिन्न पहलुओं से वर्णन करता है।

(४) संगत भाव (Associated ideas)—वर्णन को अधिक रोचक तथा प्रभावशाली बनाने के लिए वह अन्य विचारों तथा उद्धरणों से उसका स्पष्टीकरण करता है।

(५) प्रस्ताव (Suggestions)—सभी पाठकों की रुचि एक-सी नहीं होती, इसलिए लेखक कभी-कभी भाव का विकास न करके केवल उसका प्रस्ताव कर देता है। पाठक अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उसकी पूर्ति करते रहें।

कथा

कथा में लेखक का उद्देश यह रहता है कि वह क्रमागत, वास्तविक अथवा काल्पनिक घटनाओं के अनुरूप एक क्रमबद्ध विचार-माला प्रकट करे। कथा के उदाहरण पुराणों, इतिहासों, जीवनचरितों तथा उपन्यासों में पाये जाते हैं।

वर्णन और कथा का अन्तर जानने के लिए यों समझना चाहिए कि वर्णन यदि चित्रलेखन से मिलता है, तो कथा सिनेमा (चलते-फिरते चित्र-प्रदर्शन) के अनुरूप है। चित्र एक साथ ही अपने सब अङ्गों की सुन्दरता देखनेवाले के सामने रख देता है और सिनेमा में चित्रों का ऐसा तार बँध जाता है कि एक के

पीछे दूसरे चित्र की संचालन-क्रिया से एक पूरी घटना मौन-भाषा में व्यक्त हो जाती है।

कथा के अङ्ग

कथा की उत्तम रचनाओं में ये बातें पाई जाती हैं,—(१) घटनाक्रम (२) कारण और कार्य (३) दृष्टान्त (४) संक्षेप वा सार (५) आलोचना।

(१) घटना-क्रम (Order of events)—कथा में काल और क्रम के अनुसार घटनाओं का उत्तरोत्तर विकास होना चाहिए।

(२) कारण और कार्य (Cause and effect)—घटनाओं और उनके कारणों का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से बता देना चाहिए।

(३) दृष्टान्त (Illustrations)—जहाँ कथा-वर्णन में कोई आकस्मिक परिवर्तन हो, जिसका समझना पाठक के लिए कठिन जान पड़े, वहाँ मिलती-जुलती घटनाओं का दृष्टान्त दे देना चाहिए।

(४) संक्षेप (Summaries)—अच्छे लेखक प्रायः कथा के प्रत्येक खण्ड के अन्त में उसका सार दे देते हैं। इससे पाठक की स्मरण-शक्ति का बोझ हलका हो जाता है और उसे पिछले भाग का, जिसके साथ कि आगे का भाग मिलाना है, स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

(५) आलोचना (Criticism)—जहाँ वर्णनीय घटनाओं के बड़े बड़े पात्रों का विषय आता है, वहाँ लेखकों को उनका

चरित्र-चित्रण आवश्यक जान पड़ता है और उनके कार्यों तथा हेतुओं की आलोचना लाभप्रद सिद्ध होती है।

व्याख्या

व्याख्या में लेखक का उद्देश्य वैज्ञानिक रीति से ज्ञान कराना है। इसका सिद्धान्त ज्ञात की ओर से अज्ञात की ओर बढ़ना है। यही रीति शिक्षा देने में काम लाई जाती है। व्याख्या में प्रायः अमूर्त वा व्यापक विषयों का ज्ञान कराया जाना है। जैसे ; दया, क्षमा, शिक्षा आदि।

व्याख्या के अङ्ग

वैज्ञानिक रचनाओं में ये बातें पाई जाती हैं—(१) मूलतत्वों की स्थापना, (२) लक्षण वा परिभाषा, (३) विवेचन, (४) पर्य्यालोचन।

(१) मूलतत्वों की स्थापना (A Foundation of Facts) विज्ञान की प्रत्येक शाखा कुछ मूल-तत्वों पर निर्भर रहती है, जो कि मानव-समाज के निरीक्षणों तथा अनुभवों से प्राप्त होते हैं।

(२) परिभाषा (Definition)—किसी पदार्थ—उसकी क्षमता; उसकी प्रक्रिया आदि—के बताने के लिए पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता होती है। परन्तु, उन शब्दों का—व्याख्या में प्रयोग करने के पूर्व उनकी परिभाषा का ज्ञान करा देना चाहिए, जिससे पाठक लेखक के अभिप्राय को समझ जाय।

(३) विवेचन: (Inductions)—प्राकृतिक नियमों की खोज के लिए उन वैज्ञानिक तत्वों के अलग अलग विभाग तथा तुलना करना जो उन नियमों के ही द्वारा उत्पन्न होते हैं।

(४) पर्य्यालोचन (Deductions)—स्थापित वा निश्चित नियमों का विशेष अवस्थाओं में प्रयोग करना।

यही वैज्ञानिक प्रणाली धार्मिक, आचारिक, सामाजिक आदि निबन्धों की व्याख्या में भी प्रयुक्त करनी चाहिए। पहले उनके मूलतत्वों को ढूँढ़ा जाय, फिर पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान कराया जाय। इसके पश्चात् विवेचन और पर्य्यालोचन से विषय को स्पष्ट किया जाय।

तर्क

तर्क में लेखक का उद्देश दूसरों के विश्वास, वा व्यवहार पर प्रभाव डालने का प्रयत्न होता है। इसके प्रधान क्षेत्र सदाचार, धर्म, राजनीति आदि हैं। कथित भाषण भी इसीमें सम्मिलित हैं। इसके दो सर्वोत्तम शस्त्र हैं—युक्ति और प्रबोधन।

तर्क के अङ्ग

तार्किक निबन्धों में इन बातों से लेखक की ज्ञान-सीमा का परिचय मिलता है—(१) विषय (२) युक्ति-विधान (३) प्रबोधन-चातुरी।

(१) विषय (Theme)—यह आवश्यक है कि लेखक को विषय के स्थूल सिद्धान्तों, विस्तार की विशेषताओं तथा मुख्य-मुख्य पहलुओं का परिज्ञान हो। पाठकों वा श्रोताओं का मनोयोग स्थिर रखने तथा उत्साह उत्पन्न करने के लिए ये बातें बहुत ही आवश्यक हैं।

(२) युक्ति-विधान (The Methods of Logic)—पाठकों (विशेषकर विपक्षी तथा आलोचनात्मक) को अपनी बात मनवाने के लिए लेखक को न्याय-संगत युक्तियाँ देनी चाहिए। विवेचन, पर्य्यालोचन, सादृश्य आदि सभी ढंग काम में लाने चाहिए, जिससे कि अपने मत का प्रतिपादन और विपक्षी मत का खण्डन हो।

(३) प्रबोधन-चातुरी (Thc Devices of Persuation)—जिस प्रकार युक्ति का प्रभाव बुद्धि पर पड़ता है, उसी प्रकार प्रबोधन का भावनाओं पर। इसलिए चतुर लेखक वा वक्ता, दोनों का प्रयोग करता है। वह पाठकों वा श्रोताओं की मनोवृत्तियों को हिलाता और भावों को उभारता है, जिससे कि उनका प्रेम, घृणा, साहस, भय, सहानुभूति, विरोध और कभी-कभी उनकी धार्मिक, आचारिक और देशाभिमान की भावनाएँ भी लेखक की ओर खिंच आती हैं।

६—शैली (Style)

लिखने का ढंग शैली कहलाता है। कोई लेखक किस प्रकार अपने भावों की अभिव्यक्ति करता है, यही बात उसकी

शैली में देखने की होती है निबन्ध का सर्वस्व शैली ही है। जिस प्रकार,

'स्रवन, नयन, मुख, नासिका, सब के एकइ ठौर।
रहनि, सहनि, चितवनि चलनि, चतुरन की कछु और॥'

उसी प्रकार एक ही बात कुशल लेखक की शैली में अन्यों की अपेक्षा कुछ और ही हो जाती है। शैली ही लेखक के कौशल का प्रकाश है। उसमें लेखक के संस्कार, चरित्र, विचार आदि की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। खिले हुए फूल की भाँति उसमें लेखक के हृदय-कुसुम के कोमल अङ्ग अलग-अलग दिखाई देते हैं। उसीमें से उसके चरित्र की भीनी-भीनी सुगन्ध पाठकों के मन पर अपनी मोहनी डालती है। इसलिए आरम्भ से ही शैली के विकास में बड़ी सावधानी से काम लेने की आवश्यकता है। अच्छे-अच्छे लेखकों का आदर्श सामने रखकर आगे बढ़ना चाहिए। नदी की मुक्त-धारा की भाँति उसमें हमारी ध्वनि और गति एक होकर बहती हुई दिखाई दे।

शब्दों, विचारों के प्रकाशन तथा वाक्य-रचना की दृष्टि से शैली कई प्रकार की होती है।

१—शब्द-प्रधान

किसी भाव के अभिव्यक्त करने में शब्दों की जितनी संख्या से काम लिया जाता है, उसके विचार से शैली के तीन भेद हैं— (१) वाग्बहुल (Verbose), जिसमें शब्दों की अत्यधिकता पाई

जाती है। (२) संक्षिप्त (Concise), जिसमें थोड़े शब्दों से काम लिया जाता है। (३) निर्दिष्ट (Precise), जिसमें न तो शब्द बहुत अधिक होते हैं, न बहुत कम।

२—विचार-प्रधान

विचारों के प्रकाशन में जिस ढंग से चुनाव किया जाता हैं उससे शैली के दो रूप होते हैं,—(१ · अलंकृत (Ornate) जिसमें अलङ्कारमयी अथवा चित्र विचित्र भाषा का प्रयोग किया जाय (२) सुबोध (Plain), जिसमें भाषा सरल हो।

३—रचना-प्रधान

वाक्य-रचना की दृष्टि से भी शैली के दो भाग हैं—(१) धारा-वाही (Flowing), जिसमें शब्दों का अन्वय सरल हो। (२) जटिल (involved), जिसमें शब्दों का अन्वय मिश्रित हो।

इन मोटे-मोटे भेदों के अतिरिक्त शैली के लक्षण-विशेष के अनुसार उसका कोई भी विशेष नाम रखा जा सकता है। जैसे ; (१) सरूपक, जिसमें रूपकों की बहुलता हो। (२) विशेषणात्मक, जिसमें विशेषणों का प्रयोग अधिक हो। (३) लुप्तपद, जिसमें भावों का पूर्ण प्रकाश न हो। (४) उद्घोष (Bombastic), जिसमें साधारण, सरल शब्दों की अपेक्षा ऐसे शब्द अधिक प्रयुक्त हों जिनका स्वर बहुत ऊँचा हो। (५) उग्र व कटु, जिसमें कटुता का आभास हो (६) व्यंग्य, जिसमें उलटे अर्थों से भाव समझा

जाय। अर्थ-विरोधिनी, जिसमें एक विचार को साधने के लिए उसके विरोधी विचार रखे जायँ।

आलोचनात्मक दृष्टि

किसी ग्रन्थ की शैली की परीक्षा के लिए इन बातों पर ध्यान रखना चाहिए—(१) उस समय की भाषा की अवस्था, (२) ग्रन्थ के रचनाकाल तक का उस विषय का विकास, (३) लेखक की मौलिकता।

७–शैली का स्वरूप

शैली का स्वरूप इन अङ्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) विचार (Thought), (२) कथन (Expression), (३) अनुभूति (Feeling)।

विचार

विचार के मुख्य गुण हैं,—(१) सरलता (Simplicity), (२) स्पष्टता (Clearness), (३) आरोहण (Range)

१—सरलता

सरल विचार-शैली में ये बातें पाई जाती हैं:—

(१) भाव सरलता से समझ लिये जाते हैं; क्योंकि उसमें पाठकों की योग्यता पर पूर्ण विचार रखा जाता है।

(२) अमूर्त वा भाव-बोधक उदाहरणों के स्थान में प्रायः मूर्त वा प्रत्यक्ष उदाहरण दिये जाते हैं।

(३) सामान्य व्यापक कथनों को छोड़कर विशेषार्थ-बोधक कथन को प्रधानता दी जाती है। जैसे ; खेल तमाशा के स्थान में थियेटर, सरकस, झूला, कुश्ती आदि।

(४) लुप्तपद और संक्षिप्त प्रयोग काम में नहीं लाये जाते।

२—स्पष्टता

स्पष्ट शैली में ये बातें पाई जाती हैं :—

(१) साधारणतया शब्द उनके सामान्य अर्थों में ही प्रयुक्त किये जाते हैं, यदि उनका अन्यथा प्रयोग किया जाता है तो प्रसंग में असामान्य अर्थ के सम्बन्ध में कुछ संकेत रहता है।

(२) जहाँ शब्दों के कई अर्थ होते हैं, वहाँ एक परिच्छेद-विशेष में केवल एक ही अर्थ प्रयुक्त किया जाता है।

(३) कोई असंगत कथन नहीं होता, जिससे कि विचारों की अस्पष्टता सूचित हो।

(४) प्रमुख विचारों को ओजस्विता के साथ और पहले रखा जाता है और उनके आश्रित अन्य विचार यथास्थान लाये जाते हैं।

(५) एक विचार से दूसरे विचार में उचित संक्रमण होता है।

३—आरोहण

समुचित आरोहण में ये बातें पाई जाती हैं :—

(१) विचार, विषय के अनुरूप होते हैं।

(२) अब तक किसी विषय में जो कुछ जाना जा चुका है। उस ज्ञान से काम लिया जाता है। इसे युग-गत (Up-todate) ज्ञान कहते हैं।

कथन

कथन के गुण ये हैं—(१) रुचि (Choice), (२) अनुक्रम (Order), (३) स्वर-मधुरता (Melody), (४) यथार्थता (Appropriateness)।

१—रुचि

जहाँ कथन में रुचि होती है, वहाँ ये बातें पाई जाती हैं :—

(१) लेखक अपना अभिप्राय पाठकों पर प्रकट करने के लिए चुने हुए शब्दों तथा पदों का व्यवहार करता है।

(२) अव्यवहृत शब्दों तथा अति प्राचीन—जो प्रचलित न हों—कथनों का प्रयोग नहीं किया जाता।

(३) ग्राम्यता वा अश्लीलता से बचाव रखा जाता है।

(४) व्याकरण की प्रचलित अशुद्धियाँ नहीं पाई जातीं।

२—अनुक्रम

जहाँ कथन में अनुक्रम हो, वहाँ ये बातें पाई जाती हैं :—

(१) पाठक, वाक्यों, वाक्य-खण्डों तथा परिच्छेदों के अन्वय को तुरत समझ लेता।

(२) शब्दों का अनुक्रम हिन्दी-ढंग का ही होता है, संस्कृत अथवा इँग्लिश का अनुकरण नहीं।

३—स्वर-मधुरता

जहाँ भाषा श्रुति-मधुर होती है, वहाँ कानों तथा मस्तिष्क को अद्भुत आनन्द प्राप्त होता है। इस प्रकार के कथन में ये बातें पाई जाती हैं—

(१) कर्कश-स्वर-वाले शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता।

(२) दो ऐसे शब्द साथ-साथ नहीं प्रयुक्त किये जाते, जिन से कि अरोचकता उत्पन्न हो।

(३) उन शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जिनका कि स्वराघात एक दूसरे से तुरत मेल खा जाय।

(४) कथन में इतनी विविधता होती है कि एकरसता दूर रहे।

४—यथार्थता

जहाँ कथन विचार के अनुरूप होता है, वहाँ ये बातें पाई जाती हैं:—

(१) सरल भाव सरल शब्दों में व्यक्त किये जाते हैं।

(२) परिवर्धित विचार ऐसी पारिभाषिक भाषा में व्यक्त किये जाते हैं, जो सहज ही में समझी जा सके।

(३) उदात्त विचार मानों स्वतः उत्कृष्ट भाषा में व्यक्त होते हैं।

(४) क्रिया का वेग छोटे-छोटे वाक्यों के प्रयोग द्वारा प्रभावित होता है।

(५) वर्णनात्मक पदों में ध्वनि, गति तथा आकार आदि को व्यक्त करने के लिए उन्हींके अनुकरणशील शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जैसे; ररक, खड़खड़, कलकल, फुङ्कार आदि।

अनुभूति

अनुभूति में इन गुणों का समावेश रहता है,—(१) प्रवृत्ति (Passion), (२) ओज (Strength), (३) कान्ति वा मनोरमता (Charm)।

१—प्रवृत्ति

उन रचनाओं में जो कि इन्द्रिय-वृत्ति को आकृष्ट करती हैं, ये बातें पाई जाती हैं:—

(१) वे मानव-जाति, अन्य प्राणियों तथा प्रकृति के प्रति प्रेम ; औरों के साथ सुख, दुःख वा सामान्य दशाओं में सहानुभूति तथा अनिवार्य विपत्ति के अवसर पर करुणा के भावों को जाग्रत् करती हैं।

(२) वे अन्याय पर क्रोध ; अपमान पर रोष और महाभय में शङ्का की कठोर कल्पनाओं को उत्तेजित करती हैं।

२—ओज

ओजस्विनी रचनाओं में ये लक्षण पाये जाते हैं:—

(१) प्रकृति के व्यापार अथवा माननीय चरितों के वर्णन, हमारे हृदय में बल की भावनाएँ भरते हैं।

(२) प्रकृति के रहस्य हमें उत्कृष्ट भावों की ओर ले जाते हैं।

(३) जहाँ ओज की भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ व्यक्त की जाती हैं, वहाँ वे ऐसे क्रम में रखी जाती हैं कि उत्तरोत्तर उत्कर्ष द्वारा पराकोटि पर पहुँच जायँ।

(४) जहाँ विपरीत भावनाएँ वर्णित हों, वहाँ वे इस प्रकार साथ साथ रखी जाती हैं कि अर्ध-विरोधिनी युक्तिद्वारा ओज की मात्रा अधिक बढ़ जाय।

(५) विचारों का बल बढ़ाने के लिए अलङ्कार और रूपकों का प्रयोग किया जाता है।

३—कान्ति

कुछ रचनाओं में विशेष मनोरमत्व तथा आह्लादित करने की दुर्धर शक्ति होती है, जो इन कारणों से जन्म लेती हे—(१) लालित्य (Elegance), (२) रसज्ञता (Taste) (३) विनोद (Humonr), (४) सारस्य अथवा वाक्—चातुरी (wit), (५) लेखक का कोई विशेष अनिर्वचनीय जादू।

१—लालित्य—सुललित रचनाओं में ये बातें पाई जाती है—

(१) सुरुचि-पूर्ण शब्दों का चुनाव।

(२) परिष्कृत कथनों की योजना।

(३) ध्वनि, लय तथा संतोलन की सूक्ष्मता की ओर वह ध्यान, जिसको कि परिमार्जन (पालिश) कहते हैं।

२–रसज्ञता—जो रचनाएँ-सु-रसिकता के लिए प्रसिद्ध हैं उनमें ये गुण होते हैं :—

(१) धर्म और सदाचार की ओर समुचित ध्यान।

(२) भिन्न भिन्न कोटिके पाठकोंके विचारोंके लिए सम्मान।

(३) विषम विचारों का बचाव।

(४) सामाजिक प्रयोगों की पहिचान।

(५) सत्य से हटानेवाली अतिशयोक्ति का अभाव।

३–विनोद—विनोदमयी रचनाएँ वे होती हैं, जो अपने अथवा औरों के दोषों तथा विफलताओं पर आनन्द देनेवाली मीठी-मीठी हँसी दिलाती हैं। वास्तविक विनोद में ये बातें देखने की हैं :

(१) हास्य की एक झलक हो।

(२) विफलता की ही ओर सङ्केत हो, व्यक्ति की ओर न हो।

(३) दोषके साथ जो गुण हो, उसे भी स्वीकार किया जाय।

(४) विनोद सौहार्दिक हो, शात्रविक न हो ; उसमें अनुराग हो, वैर न हो।

(५) उसमें वाक्-चातुर्य का पुट सदैव रहे।

४–वाक्चातुरी—वाक्चातुरी की रचनाएँ वे हैं, जो औरों पर हँसी वा क़हक़हा लगाने का प्रभाव उत्पन्न करती हैं। वाक्चातुरी के ये लक्षण हैं

(१) विपरीत विचारों का विचित्र संयोग।

(२) इन विचारों पर सोचने का मौलिक ढंग।

(३) शब्दों पर श्लेष (एक ही शब्द का कई अर्थों में प्रयोग)।

(४) शब्दों की नाप-तोल अर्थात् शब्दों का अपव्यय न हो, गिने चुने शब्दों में बात हो जाय।

८—अलङ्कार

यों तो सहज-सुन्दर को भूषण निरर्थक हैं। यदि विचार चुभता हुआ हो, तो भाषा की सजावट से क्या? सुबोध भाषा ही भाव-प्रकाशनका स्वाभाविक ढंग है, परन्तु जिस प्रकार कभी-कभी घुमावदार घाटियों अथवा एक दूसरे के गले लगती हुई बेलों की नयनाभिराम निकुञ्जों के दर्शन से एक निराला ही आनन्द प्राप्त होता है, उसी प्रकार भाषा में अलङ्कारों की रङ्ग-विरङ्गी से इन्द्र-धनुष की-सी छटा झलकने लगती है।

भाव-प्रकाशन में सुबोध रीति का परिवर्तन ही अलङ्कार है। जहाँ क्लिष्ट भावों को शब्दों में व्यक्त करना हो, वहाँ उन्हें सुगमता-पूर्वक दिखाने के लिए अलङ्कार का प्रयोग किया जाता है और इसके साथ ही वे अधिक प्रभावशाली भी बन जाते हैं।

यहाँ हम अलङ्कार के पारिभाषिक नामों में अपने पाठकों को न उलझाकर केवल कुछ आलङ्कारिक प्रयोगों का दिग्दर्शन करा

देना ही उचित समझते हैं। जिन्हें इस विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करनी हो, वे अलङ्कारके ग्रन्थों का अवलोकन करें; क्योंकि इस विषय पर पृथक् ही अनेक ग्रन्थ हैं।

अलङ्कारों के प्रयोग में हमारे दृष्टि-कोण की असंख्य दिशाएँ हो सकती हैं, परन्तु आधार रूप से तीन बातें हैं, जिनमें सब का समावेश हो जाता है। वे ये हैं—(१) सरूपता वा सादृश्य (२) विरोध, (३) समीपता।

सरूपता

मिलती-जुलती बातों से किसी भाव का स्पष्ट बोध कराना वा उत्कर्ष बढ़ाना सरूपता का लक्षण है। इसमें जिन पदार्थों की तुलना की जाय, उनमें समान गुणों का मिलान किया जाता है। वह गुण चाहे एक हो वा अधिक। समान गुणों की न्यूनाधिकता के विचार से इस प्रकार के अलङ्कार भी अनेक प्रकार के हो जाते हैं। जैसे;

(१) 'उसके दाँत ऐसे उज्ज्वल थे जैसे दूध'। यहाँ श्वेतता का गुण ग्रहण किया गया है, न कि एक के ठोस होने और दूसरे के पतलेपन का।

(२) 'सोमदेव काला नाग है, उससे सचेत रहना'। इसमें प्रहार करने का भाव छिपा हुआ है।

(३) 'विपद् के बादलों का सामना करने के लिए शस्त्र-सज्जित रहो।' इसमें दो भिन्न कोटि के अलङ्कारों का मेल है।

(४) 'तुलसी' की कविता-सरिता में भक्ति का सरस प्रवाह है। 'सूर' में भी वही बात है; उसमें सख्य-भाव का स्रोत उमड़ रहा है। 'केशव' के काव्य-कानन में निसर्ग-रमणीयता है, पर, झाड़-झंखाड़ और रोड़ों से मार्ग कण्टकाकीर्ण है। 'बिहारी' रसिकों के शस्यश्यामल क्षेत्र हैं।' यहाँ तुलना में संलग्नता है।

(५) 'राम के आलिङ्गन के लिए सरयू तरङ्गरूपी हाथ बढ़ा रही थी।' यहाँ निर्जीव पदार्थ में सजीवता का भाव है।

(६) 'उसके पास रोटियाँ नहीं हैं।' 'वह कालिदास है।' विद्यार्थि-संसार अलग ही है'। मेरा दूसरा हाथ नहीं है।' इनमें क्रमशः 'भोजन, कवि, दशा, सहायता' का भाव है, जो दूसरे मिलते-जुलते शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है।

इसी प्रकार और भी अनेक भेद हो सकते हैं।

विरोध

कभी-कभी विरोधी भाव से कोई विचार सहज ही समझ में आ जाता और उसका सौन्दर्य बढ़ जाता है। इस प्रकार के अलङ्कार के भी अनेक भेद है। जैसे—

(१) 'कवि के रोने में आनन्द आता है।' विरोध का सीधा ढंग है।

(२) 'वह बालक नहीं है।' यह "चतुर" कहने का ढंग विरोध के निषेध रूप में है।

(३) 'छोटा-सा बीज ही बड़े बरगद का पिता है।' यहाँ शब्दों में विरोध है कि छोटे से बड़े की उत्पत्ति है।

(४) 'धर्मशीलता तव जग लागी। पावा दरस हमहुँ बड़ भागी।' यह व्यंग्य है। यहाँ रावण की अधर्मशीलता से अभिप्राय है।

(५) 'आपकी कठोर कृपा ने ही उसे बिगाड़ा।' 'कठोर कृपा' में शब्द-विरोध है।

(६) 'धनवान् कंजूस से बढ़कर कौन दरिद्र होगा ?'

इसी प्रकार और भी उदाहरण समझिए।

समीपता

इस प्रकार के अलङ्कारों में संगत भावों से अर्थ जाना जाता है। जैसे—

(१) 'उसकी लेखनी में चमत्कार है।' यहाँ लेखनी से लेखक की रचना का ज्ञान होता है।

(२) 'आपको प्याला प्रिय है।' 'प्याला' यहाँ शराब का द्योतक है।

(३) 'मैंने तुलसी का अध्ययन किया है।' यहाँ 'तुलसी' से उनके ग्रन्थों का अभिप्राय है।

(४) 'उसकी जेब भारी है।' यहाँ 'जेब' धन के लिए आया है।

(५) 'वह बढ़-चढ़कर बातें करता है।' यह झूठा कहने का कुछ कम अप्रिय ढंग है।

(६) 'सन सन', घड़ घड़', 'कल कल', 'मन मन', आदि ध्वनियों के अनुकरण से बने हुए शब्द हैं।

(७) 'कर्मयोग उसका मूलमंत्र है; कर्म के लिए वह अपना धन दे सकता है; तन दे सकता है; यही नहीं, अपना जीवन दे सकता है।' इस में उत्तरोत्तर उत्कर्ष है।

(८) 'उसने अपना चरित्र खोया; स्वास्थ्य खोया; धन खोया; वस्त्र खोये।' इसमें प्रधानता का क्रम से पतन है।

६—निबन्ध का आरम्भ

यद्यपि शैली के स्वरूप में कही गई बातों को आँखों के सामने रखने से किसी भी प्रकार की रचना का मार्ग खुल जाता है, तथापि नये लेखकों को आरम्भ में जिस कठिनाई का अनुभव होता है, वह भी भुला देने योग्य नहीं है। यह तो मानी हुई बात है कि जिस विषय पर लेख लिखना है उसका थोड़ा बहुत ज्ञान तो विद्यार्थियों को होना ही चाहिए, परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी उनमें से बहुत से यह नहीं समझ सकते कि लेख किस प्रकार आरम्भ किया जाय, कैसे उसे निभाया जाय और कैसे उसका अन्त किया जाय। प्रायः इसी प्रकार के प्रश्न विद्यार्थियों द्वारा शिक्षकों के सामने रखे जाते हैं।

जिस प्रकार बढ़े हुए पानी का प्रवाह जिधर मार्ग पाता है उधर ही उमड़ पड़ता है, उसी प्रकार उठे हुए भावों में जो लहरें-सी आती हैं, उन्हींको समुचित शब्दों में लिख देना सर्वोत्तम विधि है। इसीको सीधा अपने विषय पर आ जाना कहते हैं। कुशल लेखक इधर-उधर के झमेले में न पड़कर इसी मार्ग का अवलम्बन करते हैं। परन्तु यह मार्ग जितना स्वाभाविक है उतना सुलभ नहीं। इसका एक कारण तो व्यक्तिगत प्रतिभा की न्यूनाधिकता है, जो सर्वथा मनुष्य के अधिकार की बात नहीं। दूसरा बचपन से ही सूक्ष्म-निरीक्षण तथा भाव-प्रकाशन का स्वभाव न डालना है। यह व्यावहारिक कठिनाई किस प्रकार दूर की जाय यह एक प्रश्न है। इसी पर यहाँ विचार करना है।

जिस विषय पर लेख लिखना हो, सबसे पहले उसकी सीमा को अच्छी तरह जाँच लिया जाय कि किन-किन विचारों का निर्वाह उसके अन्तर्गत हो सकता है, तब आगे बढ़ा जाय। किसी विषय की व्यापकता, उसके शब्दों की गूढ़ता अथवा अन्य किसी कारण से हिचकने की आवश्यकता नहीं, जरा साहस से काम लेने से बड़ी-बड़ी जटिल गुत्थियाँ खुल जाती हैं। तैरनेवाला पानी की गहराई की परवा नहीं करता ; उसकी दृष्टि तो सदैव पहुँचनेवाले किनारे पर रहती है।

विषय की सीमा का अनुमान कर लेने पर उसमें तन्मय हो जाना चाहिए और जो-जो विचार उसके सम्बन्ध में मन में उठें

उन्हें संकेतरूप से लिखते जाना चाहिए। विचारते समय भावों के किसी क्रम अथवा वन्धन की आवश्यकता नहीं ; क्योंकि इससे उठते हुए विचारों की शृङ्खला टूट जाने तथा उसमें गाँठ लग जाने का भय है। जब सब विचार एक वार लिख लिये जायँ, तव उनका क्रम स्थिर करना उचित है। वह इस प्रकार कि जो भाव पहले व्यक्त करना है, उसे पहले लिखा जाय और जो उसके पीछे लिखना है उसे पीछे। विशेष ध्यान इस बात पर रहे कि उन सबमें ऐसा तार्किक सम्बन्ध रहे कि स्वाभाविक ही एक से दूसरा निकलता हुआ जान पड़े और लेख में प्रधान विषय का पूर्ण परिपाक हो जाय। इसे लेख का ढाँचा, पूर्व विचार, विचार-सारिणी, विचार-तालिका वा अन्य किसी ऐसे ही नाम से पुकार सकते हैं। लेख आरम्भ करने से पूर्व का ढाँचा वना लेना परमावश्यक है। इसके विना लेख का कोई अङ्ग वड़ा, कोई छोटा, कोई काना, कोई कुवड़ा, कोई लूला और कोई लँगड़ा हो जायगा। अन्त में उस कुरूप रचना पर, विज्ञापन के लिए वने हुए चित्रों की भाँति किसीको घृणा आयेगी तो किसीको हँसी। नये लेखकों को तो इसके विना आगे वढ़ना ही न चाहिए, वरन् वड़े-वड़े और सिद्धहस्त लेखक भी इसका आश्रय किसी किसी रूप में लेते ही हैं।

एक वार ढाँचा वना चुकने पर यह आवश्यक नहीं कि फिर उसमें कुछ परिवर्तन ही न किया जाय। यदि लिखते-लिखते वीच

में कोई नया भाव उठ खड़ा हो, अथवा किसी भाव को छोड़ना हो, तो वैसा अवश्य करना चाहिए, परन्तु बड़ी सावधानी के साथ। ऐसा करते समय देख लेना चाहिए कि तार्किक क्रम में कोई विक्षेप तो नहीं पड़ा।

विचार संग्रह कर लेने पर लेख लिखना सुगम हो जाता है। ढाँचे के एक-एक विचार एक-एक परिच्छेद (पैराग्राफ़) अलग लिख देने से लेख सहज ही पूरा हो सकता है।

एक बात और है। विचार भी सुलझ गये और ढाँचा भी सामने है, पर क़लम नहीं चलती। समझ नहीं पड़ता कि किन शब्दों वा वाक्यों से आरम्भ करें। यह दशा ठीक वैसी ही है, जैसी कि उस यात्री की होती है, जिसके सामने नाव खड़ी है, जो यह भी देख रहा है कि और नावें जा रही हैं, जिसे यह भी ज्ञान है कि नाव पानी में डूबती नहीं, परन्तु पैर उठाते ही सोचता है कि नाव पलट न जाय, किस स्थान पर पैर रखकर चढ़ूँ। वह भय-पूर्वक पैर रखता है और नाव ज़रा डगमगा जाती है। इसमें दोष नाव का नहीं, भय से वह स्वयं अपने शरीर को साधना भूल गाया है और उसे नाव की तैरने की शक्ति में अविश्वास उत्पन्न हो गया है। जहाँ उसने अपने को सँभाला, देखा कि नाव ठीक चलने लगी है।

कभी यह न सोचिए कि लेख आरम्भ करने का कोई ऐसा मार्ग मिल जायगा, जैसे पक्की सड़क। नहीं, सड़कें सब स्थानों में

नहीं होती। पगडंडियाँ, पहाड़ी घाटियाँ, और नदियों के तट भी मार्ग हैं और वे स्वाभाविक सौन्दर्य में सड़कों से कहीं बढ़कर हैं। उनकी नैसर्गिक छटा बड़ी मनोहारिणी होती है। इसीलिए तो यह कहा गया है कि जो भाव अपने मन में उठे, उसे अपने ढंग से स्वाभाविक रूप में औरों के सामने रखिए। अपने शब्दों तथा वाक्यों में अपनी ही रुचि का सर्वोत्तम चुनाव कर लीजिए और लेख आरम्भ कर दीजिए। यही सबसे अच्छा मार्ग है। इसके अतिरिक्त जिन मार्गों का अवलम्बन किया जाता है, वे भी एक नहीं अनेक हैं। धुरन्धर लेखकों की शैली के अनुकरण पर अवलम्बित होने के कारण वे हमारे लिए अच्छे पथ-प्रदर्शक का काम देते हैं। बहुधा लेखक इन मार्गों का अनुसरण करते है—

लेख की एक सुन्दर भूमिका बाँधी जाती हैं, जिससे पाठकों की रुचि आरम्भ से ही अपनी ओर आकृष्ट हो। परन्तु, इस प्रकार की भूमिका का उत्तम होना भी अपने ही मस्तिष्क की उपज पर निर्भर है। किसी मिलते-जुलते उदाहरण द्वारा, अथवा नितान्त विरोधी दृष्टान्त द्वारा प्रधान विषय पर आना भी एक ढंग है। इसमें इतना ध्यान रहे कि भूमिका बहुत लम्बी न हो, विषय के अनुरूप ही हो। चुने हुए तथा चुभते हुए शब्दों में लिखकर उसे प्रभाव-शालिनी बनाया जाय।

कभी-कभी एक आकर्षक वाक्य द्वारा विषय का महत्व दिखा दिया जाता है, जिससे पाठक तुरत उस ओर झुक जायँ।

विषय के सुमधुर अथवा भीषण परिणाम द्वारा भी पाठकों का हृदय हिला दिया जाता है और वे सचेत कर दिये जाते हैं। अपने हृदय के विकार, हर्ष, क्रोध, घृणा, विस्मय आदि के सूचक शब्दों द्वारा भी पाठकों के मन पर अधिकार जमाया जाता है। कभी-कभी कथा का सार आदि में ही लिखकर विषय को स्पष्ट करने में सहायता पहुँचाई जाती है। बड़े-बड़े विद्वानों वा कवि-कोविदों के उद्धरण भी लेख के आदि में लिख दिये जाते हैं। इनसे विषय पर बड़ा अच्छा प्रकाश पड़ता है। परन्तु, ऐसे अवतरणों के चुनाव में बड़ी चतुराई की आवश्यकता है। उनका भाव विषय के प्रधान विचार का सूचक होना चाहिए और उनके शब्दों में बिजली की-सी शक्ति हो, जो छूते ही पाठकों के हृदय में स्फूर्ति उत्पन्न कर दे। परिस्थितियों के वर्णन तथा काल-क्रम से भी अनेक लेख आरम्भ किये जाते हैं। प्रायः ऐतिहासिक लेखों में ऐसा ही होता है। भविष्य का चित्र खींच देना वा अतीत की रेखाओं का आभास करा देना भी इसी श्रेणी के लेखों का ढंग है। दैनिक जीवन के भिन्न-भिन्न भागों से किसी अद्भुत घटना को चुनकर लिख देना भी एक नया प्रभाव लाता है। इसमें लेखक की मर्मज्ञता का नमूना आरम्भ ही में मिल जाता है और पाठक श्रद्धा के भाव लेकर पढ़ना आरम्भ करता है। कहीं-कहीं वर्णनों में अनुकरणवाली ध्वनियाँ, जैसे; धड़ड़ड़ धड़ड़ड़, घूँ घूँ, सननन सननन, झमझम इत्यादि के द्वारा भी दृश्य का चित्र पाठकों के

सामने आ जाता है। किसी प्राकृतिक छटा का मनोरम वर्णन अथवा किसी वीभत्सकाण्ड की एक झलक भी अतुलनीय आकर्षण उत्पन्न करती है। इसी प्रकार और भी अनेक ढंग काम में लाये जा सकते हैं। लेखक की उदार और विशद कल्पना इन सब की जननी है।

इसके अतिरिक्त कोई-कोई लेखक मोटे-मोटे अक्षरों से अथवा शब्दों के नीचे रेखाएँ खींचकर किसी बात का महत्व प्रकट करते हैं। परन्तु, ये बालकों को बहलाने की बातें हैं। अच्छे पाठक स्वयं सार ग्रहण करते हैं। हाँ, किसी गणित वा चिकित्सा की पुस्तक में ऐसे नियम, जो अत्यावश्यक हों और जिनके लिए अन्य बातों का पढ़ना निरर्थक-सा प्रतीत हो, यदि मोटे-मोटे अक्षरों में दे दिये जायँ, तो वे लाभप्रद सिद्ध होते हैं।

लेख आरम्भ कर देने पर विषय का मध्य भाग सहज ही लिखा जा सकता है। तत्सम्बन्धी सभी विचारों का समावेश उसमें हो जाता है। एक बात इसमें विशेष ध्यान देने की है। बहुत से लेखक अन्य-अन्य विद्वानों के उद्धरण देने के बड़े प्रेमी होते हैं। ऐसे उद्धरणों का चुनाव बहुत बढ़िया होना चाहिए और उनकी अधिक भरमार कभी अच्छी नहीं—विशेषकर छोटे-छोटे निबन्धों में। हाँ, तुलनात्मक निबन्धों में इनका होना एक बड़ा भारी गुण है। यदि कोई अवतरण किसी अन्य भाषा से लिया

गया है, तो हिन्दी पाठकों के लिए उसका हिन्दी रूपान्तर अथवा भाव अवश्य दिया जाय।

अब अन्तिम कठिनाई निबन्ध को समाप्त करने की है। जो रोचकता निबन्ध के आरम्भ करने के लिए आवश्यक है, वही उसे समाप्त करने के लिए भी। यदि अन्त अच्छा न हुआ, तो लेख का प्रभाव बहुत कम हो जायगा और किसी-किसी दशा में तो मिट ही जायगा। यहाँ लेखकको अपने बलका पूर्ण प्रयोग करना है। उसे अपने सन्देश की आत्म-शक्ति का प्रभाव दिखाना है, जिसके द्वारा वह पाठक को अपना करके छोड़ दे। आरम्भ की भाँति समाप्ति के लिए भी कोई निश्चित मार्ग नहीं है। उसकी सजीवता लेखक की लेखनी की जीवनी-शक्ति पर ही निर्भर है। अपने उद्-गारों को स्वाभाविक रूप में रख देना ही इसका भी सर्वोत्तम मार्ग है। पथ-प्रदर्शन के लिए नीचे लिखी कुछ बातों पर ध्यान रखना चाहिए—

ओजस्विनी भाषा में विषय का संक्षिप्त सार लिखकर पाठकों को प्रभावित किया जाय। अन्त में भला व बुरा परिणाम दिखा-कर उसे विचार-मग्न कर दिया जाय। किसी उत्थान व पतन का दृष्टान्त सामने रखकर उसके मन में सुधार की आकांक्षा को जागृत कर दिया जाय। समाज,देश वा जाति की किसी अवस्था पर प्रकाश डाला जाय। विषय का प्रतिपादन करते हुए उसी के अनुरूप कोई अवतरण दे दिया जाय। कोई रोचक वर्णन

अवस्थानुसार उत्तरोत्तर उत्कृष्ट वा अवनत बनाया जाय। पूर्वापर सम्बन्ध से भविष्य की आशा का एक चित्र खींच दिया जाय। अपनी एक सम्मति का भाव-विशेष लिख दिया जाय, अथवा कोई प्रस्ताव करके विषय को छोड़ दिया जाय और पाठक अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उस पर विचार करते रहें।

लेख-भाग

१—सूर्योदय

[सुबोध शैली में]

विचार-सूची :—

(१) उषःकाल और खेतों की शोभा।
(२) बाग़ों की बहार।
(३) सरोवर का तट।
(४) समुद्र और आकाश।
(५) पहाड़ों का दृश्य।
(६) प्रकृति के पाठ।

पीली फट गई। सूर्य उगने लगा। चारों ओर उजियाला छा गया। अँधेरे में चैन उड़ानेवाले उल्लू छिप गये। चमगीदड़ उलटे पाँव जा लटके। जिधर देखिए उधर निराली ही शोभा दिखाई देती है। खेतों पर बहार ही बहार है। हरियाली से हृदय को बड़ा हर्ष होता है। पृथ्वी ने मानों धानी चादर ओढ़ ली है। नन्हीं-नन्हीं पत्तियों पर ओस की बूँदे मोतियों-सी चमक रही हैं। क्यारियों में कहीं-कहीं तितलियाँ फुदक रही हैं।

बाग़ों में पेड़ों पर पखेरू चहक रहे हैं। कोमल पत्तियाँ हवा में हिल-हिलकर लहलहा रही हैं। फूल फूले नहीं समाते। हँस-

हँसकर लोगों को हँसा रहे हैं। वृक्षों की कुञ्जों पर बेलों के रंग-विरंगे बूटे-बड़े सुहावने लगते हैं। फलों की शोभा दूनी हो गई है। जी चाहता है कि टकटकी लगाकर इन्हींको देखते रहें।

सरोवर के तट पर बैठने से कैसा आनन्द मिलता है। खिले हुए कमलों पर भैरों की भीड़ रागिनी-सी अलाप रही है। चकवा-चकवी उछल-उछलकर गले मिल रहे हैं। नहानेवाले बड़े लड़के आगये हैं। उनके ग़ोता लगाने से जल में जो लहरें उठती हैं, वे मनको मोहे लेती हैं। सूर्य भगवान् को अर्घ्य देते हुए पूजा-पाठ-करनेवालों का दर्शन भी बड़ा ही भव्य है।

समुद्र के धरातल पर तो सूर्य-देव पानी से निकलते जान पड़ते हैं। उनकी किरणें दूर-दूर तक फैलकर पानी के ऊपर एक अनोखी ही छवि दिखाती हैं। कहीं-कहीं उठती हुई छिन्न-भिन्न लहरों में तो कई-कई रंग एक साथ ही दिखाई देते हैं। ऊपर बादलों को छूकर किरणों ने कैसी-कैसी आकृतियाँ बना दीं। समझ नहीं पड़ता ऊपर देखें या नीचे। दोनों ओर एक से एक बढ़कर सौन्दर्य है।

पहाड़ों की बर्फ़ से ढकी हुई चोटियों पर तो जादू-सा हो रहा है। अभी लाल, अभी हरा, अभी पीला, अभी बैंगनी कैसे-कैसे रंग बदल रहे हैं कि आँख धोखा खा जाती है। ऐसे ही दृश्य देख

कर मनुष्य की तुच्छ बुद्धि पर हँसी आने लगती और ईश्वर की सत्ता का ज्ञान होने लगता है।

जिस प्रकार प्रकृति के अङ्गों में सूर्योदय से नया रस उत्पन्न होता है, उसी प्रकार हमारे शरीर से भी आलस्य दूर भाग जाता और फुर्ती आने लगती है। हम कुछ देर तक घूमते-फिरते प्रातःकाल की वायु का सेवन करते और नया बल लेकर कार्य में जुट जाते हैं। सूर्य भगवान स्वयं दिनभर अथक परिश्रम करके हमें परिश्रम और उन्नति का पाठ पढ़ाते हैं।

२--सूर्योदय

[अलंकृत शैली में]

विचार-सूची :—

(१) प्रकृति का आँगन।
(२) प्राची दिशा।
(३) नदी का तट।
(४) वृक्षों के शिखर।
(५) हिम से ढकी हुई चोटियाँ।
(६) अन्य विहार-क्षेत्र।

प्रकृति के आँगन में सूर्य-चन्द्र, तारे-नक्षत्र, विजली-बादल, नदियाँ-सागर, झरने-सोते, वन-जंगल आदि की बाल-क्रीड़ा होती ही रहती है। जिधर देखिए उधर ही आँखें नाचने लगती हैं। यदि

रात में चाँदनी छिटकती है, तो दिन में सूर्य की किरणें कलोल करती हैं। एक एक दृश्य अनुपम ही है। सूर्योदय को ही लीजिए। कितना सुहावना, कितना मनोरम, कितना रमणीय कि देखते देखते हृदय लोट-पोट हो जाय। मनुष्यों की तो बात ही क्या उसे देख कलियाँ तक खिल जाती हैं। उस प्रकाश-पुञ्ज में अद्भुत आह्लादिनी शक्ति है।

प्राची दिशा की रंगभूमि में जिस समय वह फुटबाल उछालती दिखाई देती है, आँखें उस उछालनेवाले खिलाड़ी के दर्शनों को आतुर हो उठती हैं। उसके किरण-जाल में प्रफुल्लता की तरङ्गें अठखेलियाँ-सी करती चली आतीं और अन्धकार की छाती में तीर की तरह चुभ जाती हैं। हमारी नाड़ियों में नये रक्त का संचार होने लगता और कार्य का समय आरम्भ हो जाता है।

किसी नदी के तट पर खड़े हो जाइए। बाल-रवि का प्रति-बिम्ब पानी में लोट-लोटकर नहाता और अपने सुनहरी बाल सुखाता प्रतीत होता है। कमलों की पत्तियों पर पड़ी हुई ओस की बूंदों में मोतियों का भान होता है। फूलों के ओठ खुल जाते और पँखड़ियाँ खिलखिलाती-सी दिखाई देती हैं। भौंरों की गुञ्जार भगवान् भास्कर के गुणों का गान-सा जान पड़ती है।

हरे-हरे वृक्षों की चोटियों पर हरियाली और लाली का सुन्दर समागम नयनों को अपूर्व आनन्द देता है। ऐसा जान पड़ता है मानों अंशुमाली का स्वागत करने के लिए वे अपने पाणि-पल्लव

पसार रहे हों। उन पर बैठे हुए विहग-वृन्द का कोलाहल समुद्र की उठती हुई कल्लोलों की होड़ करता है। उन्हींके मुख से मानों सरस्वती देवी जहां-तहां वीणा की झङ्कार सुनाती फिरती है।

वर्फ़ से ढकी हुई हिमालय की चोटियों पर उषा का प्रकाश पड़ते ही एक अलौकिक अभिनय होने लगा। वह चाँदनी के सरोवर से निकली हुई श्वेतता क्रम-क्रम से अरुणिमा में परिवर्तित हो गई। आँखें उठ न पाईं कि हरा, पीला, बैंगनी, नारंगी आदि बहुरंगी दृश्य दीख पड़ा, और चोटियाँ इन्द्र-धनुष का उपमान बन गईं। ऐं, यह माया भी हटने लगी! फिर वही श्वेतता, परन्तु प्रकाश में कुछ-कुछ धुंधली-सी दिखाई दे रही है। क्या कोई नट है, जो इस नाट्य की नक़ल उतार दे?

सागर के विशाल वक्षस्थल पर, वन, उपवन की अन्तर-पटी में तथा मरुस्थल की विशाल गोद में सर्वत्र ही सूर्योदय के साथ अभ्युदय की झलक आने लगती है। उमंगों का स्रोत उमड़ पड़ता और खेलने के लिए मैदान खुल जाता है। खेलनेवाले हँसते हँसते उस मैदान में कूद पड़ते और जीवन का आनन्द लूटते हैं।

३—दयानन्द शताब्दी

विचार तालिका :—

(१) शिव-रात्रि-जागरण की घटना।

(२) महर्षि दयानन्द सुधारक रूप में।

(३) समारोह का दृश्य।
(४) प्रवन्ध ; आर्य-जीवन।
(५) रात्रि और प्रातःकाल की चर्य्या।
(६) यज्ञ-मण्डप।
(७) प्रधान-मण्डप।
(८) अन्य सभाएँ ; संन्यासि-मण्डल।
(९) आर्य समाज की सहिष्णुता।
(१०) जलूस।

(१) प्रवेश

एक दिन था, जब शिव-रात्रि-जागरण करते हुए एक युवा ने देखा कि एक चुहिया आती है और शिवजी के ऊपर श्रद्धा-सहित चढ़ाये हुए भोग का भोग लगाती है। शिव-लिङ्ग ज्यों का त्यों है ; उसमें देवत्व की कोई प्रक्रिया दृग्गोचर नहीं होती। इस घटना से युवा के अन्तर्पट खुल गये। उसने यज्ञाग्नि के लिङ्ग-स्वरूप शिव की प्रतिमा में अन्धकार की एक रेखा देखी और समस्त आर्य-लोक पर उसका प्रभाव पाया। उसका हृदय द्रवित हो गया और इस अन्धकार को मिटाकर जातीय जागृति फैलाने का संकल्प उसने किया। वह मोह-निद्रा को भङ्ग कर तत्क्षण वहाँ से चल पड़ा। 'तीन लोक से न्यारी' मथुरा में उसे लोकोत्तर आलोक मिला। वहाँ उसने श्रीस्वामी विरजानन्द सरस्वती के चरणों में बैठ आर्य-धर्म का गहन अध्ययन किया।

उस प्रज्ञाचक्षु गुरु ने अपने शिष्य को वह मंत्र दिया, जिसने सोई हुई हिन्दू जाति में नवजीवन का सञ्चार किया। उस घटना को सौ वर्ष—सफल सौ वर्ष—हो गये।

वह युवा महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती था। उसकी दया में उस समय कोमलता न थी, कठोरता थी। पर, वह आनन्द से परि-पूरित थी, यह इन सौ वर्षों ने प्रमाणित कर दिया। उसे हमारी वज्र-मूर्खता पर दया आती थी, और उस पर वज्र गिराने ही में उसे आनन्द आता था। वह बुरे को बिगाड़ना ही न जानता था, भले को बनाना भी जानता था। उसकी सूझ बड़ी पैनी थी। वह चतुर किसान था और सुरुचि-सम्पन्न माली भी। उसे अपनी खेती निराना और पौधों का तराशना खूब आता था। पर वह यती था। उसके शृङ्गार में—उसकी सजावट में—निसर्ग-रमणीयता थी; उसमें ललितकला, काव्य, नाटक, आदि को स्थान न था। वह सुधारक था धर्म-प्राण था; उसका उद्देश ही और था। वर्तमान आर्य-समाज, गुरुकुल आदि उसकी संगठन शक्ति के सुफल हैं।

उसीका पुण्य-स्मृति स्वरूप, संवत् १९८१ विक्रमीय का शिव-रात्रि-सप्ताह भगवान् कृष्ण की अवतार-भूमि मथुरापुरी में बड़े समारोह के साथ मनाया गया। इस शताब्दि-सम्मेलन की धूम देश-विदेश में मच गई थी और चारों ओर से आर्य-जनता ही नहीं, समस्त हिन्दू-समुदाय का समुद्र उमड़ पड़ा था। मथुरा के

जंकशन स्टेशन और नगरी के बीच में मानों दूसरी मथुरा बस गई थी। दो तीन लाख मनुष्यों की वह निवासस्थली युक्तप्रान्त के बड़े से बड़े नगर की समता कर रही थी। रात के समय यमुना को पार करती हुई बी० बी० सी० आई० रेलवे की गाड़ी जब वहाँ पहुँचती थी, तो प्रथम ही भानु-नन्दिनी के तट पर नीले जल में दीपमाला से प्रकाशित मथुरा का प्रतिबिम्ब अलौकिक ही दीख पड़ता था। सिटी स्टेशन से बढ़ते ही थोड़ी दूर पर सीधे हाथ को शताब्दी के शिविरों की शोभा चन्द्र-ज्योत्स्ना में ऐसी प्रतीत होती थी, मानों मथुरा के इस ओर शुभ्र-सलिला भागीरथी ने अपनी बहिन यमुना के घर आकर आतिथ्य ग्रहण किया हो और उसके तट पर मुनियों की कुटीरें बन रही हों।

(२) प्रबन्ध

इतने विशाल समुदाय का प्रबन्ध आर्य-स्वयं-सेवकों द्वारा वहाँ के नियोजकों ने ही किया था। पुलिस की सहायता नहीं ली गई थी। फिर प्रबन्ध भी कैसा ? आदर्श। स्टेशन से उतरते ही, कोई कितना ही अनजान क्यों न हो, कुछ कष्ट ही नहीं। तुरन्त स्वयं-सेवकों से सहायता मिलती थी। ठहरने के लिए, मानों घर में जा बैठे। खाने-पीने का सामान सब सस्ता और सुलभ। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लिए अलग-अलग शिविर थे। प्रत्येक के साथ उन्हींकी रुचि के अनुकूल पदार्थों की दूकानें

खुली हुई थीं। प्रधान बाज़ार में सब प्रकार के फल और अन्य खाद्य पदार्थ प्राप्त थे। पुस्तकों की दूकानें, प्रदर्शनी आदि सभी कुछ था। यह तो था सो था ही, इन सबके ऊपर थी भ्रातृ-भाव की भावना। जिस प्रेम, जिस सहानुभूति, जिस उल्लास और जिस सादगी के साथ यहाँ लोग रह रहे थे, यदि वही जीवन हमारे परिवारों में व्यतीत होने लगे, तो आर्य-गौरव के पुनरुत्थान में देर न हो और 'शतं जीवेम शरदः' की कामना पूरी हो जाय।

(३) आर्य-जीवन

रात्रि के समय सानन्द सोइए। पत्ता भी नहीं खड़कने का। स्वयं-सेवकों और ब्रह्मचारियों का पहरा; उनके बदलते हुए सजग-सङ्केत (Watch-words) और वे भी देववाणी में हिन्दू-स्वराज्य की सुध दिलाते थे। ऐसा प्रतीत होता था, मानों किसी सैन्य-शिविर में पड़े हों। ब्राह्म-मुहूर्त्त के आते ही आर्य-गायन की मधुर तान कानों में पड़ती थी। टोलियाँ की टोलियाँ गाती हुई कितनी भव्य थीं, कहा नहीं जा सकता। नर-नारियों का इतना सुन्दर समागम कहाँ देखने को मिलेगा? आर्य-ललनाओं ने परदे को हटाकर मानों अविद्या का परदा फाड़ दिया था। उस दिन मुझे मालूम हुआ कि आज हमारा घर हमारा है। धार्मिक जीवन सचमुच सर्वोपरि है। आत्मा को उसीमें शान्ति मिलती है।

नित्य-कृत्य से निवृत्त होकर यज्ञशाला में जाइए। सुगन्ध से मानों सारा संसार महक रहा है। शारीरिक पवित्रता के साथ मनःपूतता का कैसा मधुर मिलन है! आर्यों के इस तत्वज्ञान की शतमुख से प्रशंसा करनी पड़ती है। हवन-गन्ध के साथ वायुमण्डल में मंत्रों की गूँज आत्म-परीक्षा की ओर ले जाती है और पतितातिपतित भी एक वार उत्थान के लिए अग्रसर हो जाता है। दिव्य विचारों का यही प्रभाव है।

उत्सव के प्रधान मण्डप में चारों ओर आर्य-जीवन की झलक दिखाई देती है। गुरुकुल के ब्रह्मचारियों, संन्यासियों, विद्वानों, कविकोविदों का रङ्गमञ्च पर समागम बड़ा ही हृदय-हारी है। चारों आश्रम मानों वहाँ एकत्र हैं। साम-गान के साथ कार्यारम्भ होते ही वह कोमल और मधुर स्वरावली कर्णगोचर हुई कि आत्मा आनन्द में लीन हो गया। उस मञ्जुल गान को सुनकर ध्यान आया कि क्या सोचकर गोस्वामी तुलसीदास ने 'बटु-समुदाई' के वेद-पाठ को 'दादुर-धुनि' से उपमा दी थी। कहाँ यह लय और कहाँ वह टर्र-टर्र। इसके अनन्तर उपदेशों की झड़ी लगती थी और धर्मजिज्ञासुओं की पिपासा उस पीयूष-वर्षण से शान्त होती थी। दयानन्द का दयानन्दत्व सौ वर्ष पश्चात् स्पष्ट दिखाई दे रहा था।

आर्य-कुमार-सभा, कवि-सम्मेलन, आर्य-स्वराज्य-सभा, अछूतोद्धार-सभा, शुद्धि-सभा इत्यादि-इत्यादि का कहाँ तक वर्णन

किया जाय। सब अपने अपने ढंग के निराले थे। परन्तु, संन्यासियों के सम्मेलन की चर्चा किये बिना आगे न बढ़ा जायगा। भगवा वस्त्रों की उस लटक में कुछ अद्भुत ही छवि थी। महर्षि दयानन्द के प्रताप की किरणें उन्हीं मुद्राओं में प्रतिलक्षित हो रही थी। वहीं मस्तक सतत झुका रहना चाहता था। महर्षि के सन्देश-वाहक, निःस्वार्थ सेवा के मूर्तिमान अवतार, वेद-ज्ञान के प्रचारक वही नर-रत्न थे। उन्हें देखकर बौद्ध भिक्षुओं की कल्पना हो आई। 'बुद्धं शरणं गच्छामि' का मंत्र स्मरण आ गया। आर्य-जाति! अपने जीवन के फल को तूने इन्हींके रूप में समाज को अर्पण करना सीखा है। यही समर्पण तेरी विश्व-प्रेम की श्रद्धाञ्जलि है।

जिस प्रकार बरसात में बढ़ी हुई नदी का जल शरद ऋतु में निर्मल होता है, उसी प्रकार आर्य-समाज की आरम्भिक कट्टरता रूपी जलधारा इस शत-शरद के पश्चात् सहिष्णुता की विमल धारा बन गई थी। विधर्मियों के बनावटी साधुओं को पकड़ लेने पर भी और उन्हें शस्त्रादि सहित पाकर भी दयापूर्वक छोड़ देना सर्वथा आर्य-धर्म के अनुरूप ही था। आरम्भ में आर्य-समाज पर उपल-वर्षा करनेवाले अन्य भाई भी उतने ही उत्साह से भाग ले रहे थे, जितने से कि दयानन्दी। सन्देश की पवित्रता इसीको कहते हैं। संभव है कि कोई इतिहास-प्रेमी अशोक के समय के बौद्ध-सम्मेलनों की भाँति, इस आशा से गया हो

कि आर्य-समाज अपने धार्मिक सिद्धान्तों में कुछ युगानुकूल परिवर्तन करेगा और संसार को कुछ नया सन्देश देगा और उसे इसमें कुछ निराशा हुई हो। परन्तु जो कुछ था, वह था अभूतपूर्व और आर्य्योचित।

(४) जलूस

एक बात रह गई। पहले दिन का नगर-कीर्तन और जलूस इतिहास का एक अचिन्तितपूर्व दृश्य था। वेद-भगवान् की सवारी उस मथुरापुरी में निकली, जहाँ भगवान् कृष्ण के भक्तों का दुर्ग है। उसमें जो सफलता हुई और जो भ्रातृ-भाव प्रदर्शित किया गया, उससे प्रतीत होता था कि आर्यसमाज की यमुना सनातन धर्म की गंगा में किस प्रकार मिल रही है। भक्ति और प्रेम की तरङ्गों का कैसा कौतूहलवर्धक उतार-चढ़ाव था। शिविरों से लेकर नगर के सिरे तक नर-नारियों की भीड़ इस प्रकार जा रही थी, जैसे समुद्र के धरातल पर धाराएँ। यों तो सारा जलूस ही अनुपम थां, परन्तु वेदों की सवारी के पीछे संन्यासियों का मण्डल और उसमें ऊँचा उठा हुआ स्वामी श्रद्धानन्द का मस्तक उनके भावी उत्सर्ग की सूचना दे रहा था। महिलाओं का इतना बड़ा समारोह तो आज तक कहीं न हुआ होगा। देवियों के उस सम्मेलन से भारतमाता के उज्ज्वल मुख की कल्पना सहज ही की जा सकती थी। इतनी भीड़ आश्चर्य-जनक शान्ति के साथ जा रही थी कि उस पावन गृह के समीप

पहुँची, जहाँ ब्रह्मचारी दयानन्द अपने गुरु के पास स्वाध्याय किया करते थे। उस समय अपूर्व उल्लास था, उस टूटे-फूटे घर की दीवारों को देखकर कौन कल्पना कर सकता था, कि यहाँ से एक ऐसी आत्मा का उदय होगा, जिससे समस्त संसार आलोकित हो जायगा ? सच है, "लाल गुदड़ी में नहीं छिपे रहते।"

४--भारत के साधु और फ़क़ीर

विचार-तालिका :--

(१) धर्म के नाम पर निराली लीलाएँ।
(२) सच्चे साधु।
(३) हमारी मूर्खता।
(४) देवताओं की बाढ़।
(५) साधुओं के विचित्र ढंग।
(६) महन्तों की माया।
(७) माँगते समय का स्वाँग।

धर्म-भूमि भारत में धर्म के नाम पर न जाने क्या-क्या लीलाएँ होती रहती हैं। कहीं मोक्ष बाँटा जाता है, कहीं पुत्र लुटाये जाते हैं। कहीं पाप धोये जाते हैं, कहीं ताप खोये जाते हैं। कहीं ढोंग द्वारा ठगी का बाजार गर्म रहता है, तो कहीं ढोलक-खंजरी पर राग अलाप कर मौज उड़ाई जाती है। कहीं

चिमटा चटकता है, तो कहीं मुँड़चिरा सिर पटकता है। क्या-क्या कहें—"नाना वाहन नानाकारा। नानायुधधर नाना-चारा॥" इन नाना भाँति के जीवों को देख एक तो हंसी आती है और एक कलेजे में कसक उठती है। "ना जानूँ का भेष में नारायण मिलि जाइँ," की बात समझ में आती है, पर इन विराट् भेषधारियों को देख वबूला वन जाती है। इनमें श्रद्धा लाते समय न जाने क्यों सिर हिलने लगता है।

वह दिन था, जब भारत के गौरव-स्वरूप साधु-संन्यासी सांसारिक झंझटों को छोड़कर अपने पवित्र उपदेशों से संसार का उद्धार करते और समाज-सेवा के द्वारा मोक्ष-लाभ करते थे। समाज भी उनकी सेवा में अपने को धन्य मानता था। लोगों ने उनके सुख को देखा, त्याग को नहीं; स्वातंत्र्य को देखा, बलि-दान को नहीं; वेष को देखा, उद्देश्य को नहीं। फल यह हुआ कि आज बावन लाख से अधिक भिखारी भारत-माता की छाती पर चढ़े निर्लज्ज विहार करते हैं। क्या करें, 'वेष-प्रताप पूजि-यत तेऊ' महात्माओं में अब भी हमारी वैसी ही श्रद्धा है। उनके चरण जहाँ पड़ें, वहाँ हमारी आँखें बिछें, वे जहाँ रहें वहाँ हमारे तीर्थ बनें, उनके पुनीत पदार्पणसे हमारे घर पवित्र होते रहें, यही हमारी कामना है। उनके चरणों पर नत-मस्तक होकर यहाँ नामधारी साधुओं का चित्र हमें खींचना है।

इन नामधारी फ़क़ीरों की मौज का महल हमारी मूर्खता की नींव पर खड़ा है। भारतीय घरों में ही धर्म का स्वरूप शेष है और वहीं अविद्या का अखाड़ा जम रहा है। गृह देवियाँ धर्म का सात्विक स्वरूप भूल रही हैं और भूत-पूजा की ओर बढ़ रही हैं। दान-पुण्य हिन्दू जाति की सदा से विशेषता रही है, परन्तु अब पात्र-विचार का ज्ञान जाता रहा है। हमारा हृदय शीघ्र ही पिघल जाता है, और हम "मनहुँ मीचु चोटी गहे, देत विलम्ब न लाउ" की पवित्र प्रेरणा में फलाफल का विचार छोड़ बैठते हैं। हमारी इस भूल से हमारे समाज का, हमारे देश का अहित हो रहा है, यह देखकर भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं। ऐसी धर्मान्धता अवाञ्छनीय है, उसका समर्थन कोई समझदार नहीं कर सकता।

देवताओं के नाम पर माल उड़ा-उड़ाकर मस्त रहना और कुकर्म करना कहाँ की साधुता है? स्वार्थ की इस भावना ही ने तो हमारे देवताओं की संख्या बरसाती मेढकों की तरह बढ़ा दी है। कोई जीव, कोई वृक्ष, कोई मूर्ति, काई जलाशय ऐसा है, जिसमें देवभाव न आया हो? कूड़े करकट की पूजा तक हमें करते हैं। कल्यानी, मसानी, काली, वराही, देवता, जखैया, सैयद, मीयाँ, चामड़, पथवारी, पीपल, बेर, आक, बबूल आदि अगणित देवता हैं। इन सब में ईश्वर की सर्वव्यापकता का ही भाव हो सो भी नहीं। यहाँ तो कुछ ऐसा दिमाग़ का दिवाला निकला है कि कोई

भी आकर्षक वस्तु हमारा देवता बन सकती है। जब यहाँ रेल-गाड़ी चली ही थी, तब लोग उसके एंजिन की पूजा करते थे।

भैरव के भक्त भोपा बनकर लूटते हैं। मुसलमान नादिया की पीठ में जीभ, टाँग आदि काटकर जोड़ देते और गुसांई बन कर शङ्कर बंभोला करते हुए पुजते हैं। सपेरे, कंजड़, भगवा वस्त्र पहनकर साधु बनते हैं। कोई कमर में घंटे लटकाकर एक कोड़ा चटकाते हुए भक्तों को मूँड़ते हैं। रंग-बिरंगी गुदड़ी पहन कर वा कान फाड़कर कोई कोई योगिराज बनते हैं। किसीके हाथ में खप्पर और गले में हड्डियों की माला रहती है, वे अपने को शरभङ्ग ऋषि की सन्तान कहते हैं, भक्ष्याभक्ष्य को खाकर कोई अघोरपंथी बनते हैं। कोई नंगे घूमकर परमहंस पदवी के पात्र बनते हैं। कोई इन्द्रिय को नाथ कर जितेन्द्रियता का दम भरते हैं। कोई एक हाथ ऊपर को उठाकर ही स्वर्ग को चढ़ते हैं। कोई सारे अङ्ग में विभूति लगा कर, जटाएँ बढ़ाकर पहुँचे हुए महापुरुष बनते हैं। कोई फेरी लगाते और कोई कंधे पर काँवर लटकाकर 'धनुषधारी राम' की ध्वनि लगाते हैं। कोई चिमटा और चूड़ियाँ लिए घूमते हैं। कोई ज्योतिष वा रमल बताकर माँगते हैं। किसी ने एकतारा, खंजरी आदि बजाकर संगीत द्वारा ही भिक्षा का नया ढंग निकाल रखा है। संक्षेप में, आकाश के तारों की भाँति दरिद्र-मण्डल के ये नक्षत्र अविद्या के अन्धकार में जहाँ-तहाँ चमकते फिरते हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ प्रतिष्ठित नामधारी फ़क़ीर हैं। ये फ़कीर नहीं कहलाते, पर कर्म-विचार से फ़कीरों से कुछ कम नहीं है। उनमें पुरोहित, पण्डा, गुसाईं आदि हैं। बड़े-बड़े महन्तों की कथा न पूछिए। वे बड़े हैं; हाथियों पर चढ़कर माँगते हैं; गद्दी तकियों के सहारे पड़े बिहार करते हैं, भोगमें योग का दावा उन्हींको है; उनके मठों में, विहारों में, मन्दिरों में, धर्मशालाओं में पुण्य-प्रार्थना के पीछे जो कुछ होतां है, उसे लिखने बैठें तो भारत का एक काला महाभारत बन जायगा। 'वहाँ ऊँची दूकान और फीका पकवान', इतने ही में सब समझ लीजिए।

माँगते समय का इनका स्वरूप देखिए। वह रूप धारण करेंगे, ऐसी त्यौरी बदलेंगे, ऐसा रंग चढ़ायेंगे, ऐसा स्वाँग भरेंगे कि यदि उनकी माँग पूरी न हुई तो न जाने किस आपत्ति का पहाड़ टूट पड़े। शाप तो इनके मुँह पर है और पाप इनके हृदय में। हमारी धर्म-वृत्ति हमारी इच्छा शक्ति को पोच बना देती है और हम इन ढोंगियों के सामने प्रायः लच जाते हैं। यदि इन देश-कलङ्कों का यों ही पोषण होता रहा, तो हमारे नाश के दिन दूर नहीं।

५—मेरी सिंहगढ़-यात्रा

पूर्व विचार :—

(१) प्रस्तावना,—तानाजी का आत्मोत्सर्ग (प्राण-बलिदान)।

(२) सिंहगढ़ की स्थिति।
(३) पूना से प्रस्थान और मार्ग के दृश्य, मोढ़ा नदी का वाँध।
(४) मावली कुली और वर्षा की बौछार।
(५) चढ़ाई।
(६) ऊपर के दृश्य,—ताना जी की समाधि, शिवालय, जलाशय, आदि
(७) उतार।

एक असहाय अवला सिंहगढ़ के पहाड़ी दुर्ग में औरंगजेब के सिपहसालार उदयभानु के पञ्जे में पड़ गई थी। उसने छत्रपति शिवाजी को सन्देशा भेजा कि आप आकर इस अत्याचारी से मेरी धर्म-रक्षा करें, यदि आज की रात और बीत गई, तो मेरा त्राण असम्भव हो जायगा। जिस समय यह संदेश आया, महाराज शिवाजी एक और दुर्ग को विजय करने में लगे हुए थे। उनके वीर सामन्त तानाजी के हाथ में सन्देश-पत्र पहुँचा, तो उस सुभट के भुजदण्ड फड़क उठे। परन्तु सेना और सिपाही कहाँ ? केवल दो सौ मावली जाति के वीर साथ लेकर वह आधी रात के समय दुर्ग के समीप पहुँचा। निशा के गहन अन्धकार में अगम्य पर्वत की चोटी पर चढ़कर, उस अवला की रक्षा में, उन मुट्ठी भर वीरों ने जिस प्रकार अपने प्राण वलिदान किये और शाही सिपहसालार का वध किया, वह वीर-गाथा मेरे हृदय में

बहुत पहले ही सिंहगढ़-दर्शन की बलवती इच्छा उत्पन्न कर चुकी थी।

जिस समय मैं पूना पहुँचा, वर्षा हो रही थी। श्रीयुत केलकर ने मुझे सम्मति दी कि यह समय सिंहगढ़ जाने के लिए अनुकूल नहीं है। परन्तु, फिर ऐसा सुयोग मिले न मिले, यह विचारकर मैंने जाने का ही निश्चय किया। सिंहगढ़ पूना से पन्द्रह मील की दूरी पर है। ग्रीष्म ऋतु में वहां के धनी मानी सज्जन प्रायः सिंहगढ़ ही चले जाते हैं। पश्चिमी घाट की सुहावनी श्रेणी और शीतल समीर उन्हें वहाँ खींच ले जाती हैं। इसके अतिरिक्त स्कूल तथा कालेज के विद्यार्थियों और अनेक यात्रियों तथा मित्रों की गोष्ठियाँ आनन्द मनाने के लिए वहाँ जाती आती रहती हैं।

पूना से सिंहगढ़ जाने आने में पूरा दिन लग जाता है। इस लिए कुछ फल और चिउड़ा (चावल और मेवाओं का एक प्रकार का स्वादिष्ट चवेना) लेकर मैं ताँगे पर सवार हुआ। वर्षा के कारण पहाड़ी मार्ग बहुत बिगड़ जाता है, इस कारण ताँगेवाले ने बारह रुपये लिये। मार्ग में महाराष्ट्र प्रान्त के ग्रामों की छटा देखने को मिली। वही पुराने ढङ्ग का हल और प्रायः यहाँ की-सी ही बसावट सर्वत्र है। छोटी-छोटी बातों में कुछ अन्तर भले ही रहे। ताड़ के वृक्ष बहुत दिखाई देते हैं, कहीं-कहीं तो इनके बाग़ हैं। पूछनेसे पता लगा कि यहाँ के लोग ताड़ी बहुत पीते हैं।

ग्यारह मील चलने के पश्चात् मोढ़ा नदी का बाँध दृष्टिगोचर हुआ। यह नदी पूना के समीप ही होकर बहती है। अँगरेज़ों ने बाँध बाँधकर इसकी धारा को यहाँ रोक दिया है। दोनों ओर छोटे-छोटे पहाड़ों के बीच में नदी का रुका हुआ जल घने बीच में फैला हुआ है। इस लम्बे चौड़े जलाशय को झील कहना अनुचित न होगा। जिन्होंने नरोरा पर गंगा का पुल देखा है, वे इसकी कुछ-कुछ कल्पना कर सकते हैं। यहाँ पहाड़ियाँ होने के कारण इसकी शोभा कहीं अधिक बढ़ गई है। मीलों के विस्तार में पड़ी हुई यह जल-राशि चाँदी की सुन्दर चद्दर-सी प्रतीत होती है और जहाँ तहाँ लोहे के फाटकों के सुदृढ़ बाँध के ऊपर से गिरता हुआ सलिलसमूह झरनों का अद्भुत आनन्द देता है। ऊपर से गिरती हुई पानी की धारा जब नीचे आकर छिन्न-भिन्न होती है, तो ऐसा जान पड़ता है, मानो किसीने मोतियों के ढेर बखेर दिये हों। जिस ओर दृष्टि जाती, उधर ही चाँदनी सी छिटकी जान पड़ती है।

इस मनोहर दृश्य को देखकर मैं फिर सिंहगढ़ की ओर बढ़ा। लगभग एक मील तक तो एक ओर पहाड़ी, दूसरी ओर इस झील का दृश्य सामने रहा। तब एक मोड़ आया। दोनों ओर वृक्षों की हृदय-हारिणी शोभा और सामने उठते हुए सिंहगढ़ की सिंहतुल्य ही धज मन में न जाने क्या-क्या भाव उत्पन्न कर रही थी। सायङ्काल के चार बजे से इस वन में सिंहों का भय उत्पन्न हो जाता है। मैं एक बजेके लगभग सिंहगढ़ के नीचे पहुँचा।

ताँगेवाले ने कहा, "बाबूजी, शीघ्र ही लौट आइएगा, नहीं तो आप मुझे व मेरे घोड़े को न पावेंगे, कोई सिंह आकर समाप्त कर देगा।" इतने ही में ताँगे की खड़खड़ सुनकर मावली कुली दौड़ आये, और 'खुड़ची, खुड़ची' कहकर मुझे घेर लिया। मैं कुछ न समझा, ताँगेवाला भी न समझा सका। मैंने लाने का संकेत किया, तो एक कुरसी वे लोग उठा लाये। अब मैं समझा कि ये लोग कुरसी को खुड़ची कह रहे थे। इसी पर बिठाकर ये लोग यात्रियो को ऊपर ले जाते हैं। चढ़ाने और उतारने का किराया तीन रुपया गवर्नमेंट की ओर से नियत है।

इतने ही में वर्षा की एक बौछार आगई। ये लोग मुझे पास ही वन की घनी छाया में स्थित अपने एक टूटे-से मन्दिर में लिवा ले गये। मन्दिर दुर्गा वा काली का था। उस निर्जन स्थान में काले-काले मावलियों से घिरा हुआ मैं, वहाँ की भयङ्करता का अनुभव कर रहा था। उनकी भाषा थोड़ी-थोड़ी, सो भी अनुमान से, समझ लेता था। एक छाया में मुझे खड़ाकर वे लोग भीगते रहे। दीनता उनके चहरे पर टपक रही थी। उन्होंने बतलाया कि यहाँ के ये क्यारियों के बराबर खेत भी पटवारियों के द्वारा नपे पड़े हैं, वे लोग लगान भी कठिनता से दे सकते और इस दरिद्र वेश में रहते हैं।

वर्षा बन्द होते ही आठ कुली मुझे कुरसी पर बिठाकर चले। चढ़ाई इतनी कड़ी है कि कहीं-कहीं तो सीधी दीवार-सी पर

चढ़ना पड़ता है। यद्यपि तीन मील ही चढ़ना उतरना पड़ता है, तथापि इतने में ही छठी की सुध आ जाती है। नैनीताल और मंसूरी की चढ़ाइयाँ इसके सामने कुछ नहीं। मैंने कितनी ही चढ़ाइयाँ पैदल पार की हैं, परन्तु इसे देखकर मैं भी दंग रह गया और उन मावलियों को भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगा। पर्वत से उतरते हुए सफ़ेद साँपों की भाँति अनेक झरने; धुले-धुले पत्तों से प्रसन्नवदन हरे-हरे वृक्ष; कहीं-कहीं पर नंगे, किन्तु प्रकृति के लाड़िले मुसुकराते हुए मावली बालक मेरे मन में हर्ष की हिलोरें उठा रहे थे। कुछ काल में ही दुर्ग-द्वार के खँडहर दृष्टि-गोचर हुए और हम सिंहगढ़ की चोटी पर जा विराजे।

ऊपर देखें तो चारों ओर सन्नाटा था। पेशवा के भवनों का स्थान पारसी-बँगलों ने ले लिया था। कुछ और लोगों के बँगले भी वहाँ थे, परन्तु थे सब बन्द। अब मैं अतीत काल के आर्य-गौरव के चिह्न देखने चला। वीरवर तानाजी की समाधि देखकर मैंने प्रणाम किया। समीप ही एक पक्की दीवार दिखाई दी। एक मावली से मैंने पूछा, तो उत्तर मिला कि यही वह स्थान है जहाँ से ताना जी चढ़े थे। दीवार सिर से ऊँची थी, मैंने ऊपर चढ़कर देखना चाहा। वे लोग कहने लगे कि आप भय से नीचे गिर जायँगे, ऊपर न जाइए। बहुत कुछ कहने-सुनने पर उन्होंने सहारा देकर मुझे ऊपर चढ़ाया। देखा तो, दाँतों में उँगली दबाई। बाप रे बाप! चालीस फ़ीट ऊँची खड़ी दीवार और

नीचे बिल्कुल ढालू पहाड़ी। आँखे फट गईं। दिन में भी तो उस पर चढ़ना सहज नहीं। फिर आधी रात के अँधेरे में किस प्रकार उन वीरों ने चढ़ाई की होगी, यह दृश्य मेरी आँखों में घूम गया। कुछ काल के लिए मेरे माथे में राष्ट्रवीर शिवाजी के वीर कृत्यों की कल्पना चक्कर काटती रही। उतरा तो मावलियों से पूछा—"क्या तुम अब भी इस पर चढ़ सकते हो?" "हां" कहते हुए उन्होंने पेट पर हाथ रखा और मैं रो पड़ा।

इसके उपरान्त मैं उस शिवालय में पहुँचा, जहाँ वीरश्रेष्ठ शिवाजी नित्य-प्रति दर्शन को आते थे। एक पुजारी आया, उसने दर्शन कराये। मैंने उसे कुछ पत्र-पुष्प भेंट किये। पास ही मन्दिर की ओर मुख किये लोकमान्य तिलक का बंगला था। फूँस के उस बँगले में मुनियों की कुटीरों की छवि विद्यमान थी। वहाँ से चलकर एक जलाशय देखा। दुर्ग के ऊपर यह स्वाभाविक, सुन्दर किन्तु छोटा सा जलाशय अनुपम ही है। इसका निर्मल नीर, और उसमें तैरती हुई लाल, सुनहरी मछलियाँ मन को मोह लेती हैं। यहीं से पूना तक एक मार्ग-द्वारा इसका जल पहुँचाया गया है, और वह पूना में दो कुण्डों में जाकर जमा होता है। अब भी वहाँ के अनेक लोग नल को छोड़कर इसीका जल पीते हैं। पेशवा के समय में इसीका जल राज-भवनों में भी पिया जाता था। मैंने इसीके तट पर बैठकर जलपान किया। यहीं से तोरना, पुरन्दर, प्रह्लादगढ़

आदिक दुर्ग दिखाई देते थे। वह पर्वत-माला क्या थी, छत्रपति शिवाजी की कीर्ति-पताका ही इधर-उधर ऊँची उठ रही थी। कुछ ध्यान में मग्न था कि मावलियों ने देर होने से सिंह के भय की सुध दिलाई।

उतरते समय उन्होंने मुझ से ऊपर की ओर मुँह करके कुरसी पर बैठने को कहा। मैंने हठ किया कि मुझे डर नहीं लगेगा और मैं अच्छी तरह देखता हुआ चलूँगा। परन्तु, उन्होंने न माना और कहा कि ढाल बहुत है, आप गिर जायँगे। मैंने उन्हीं की बात मान ली और उतरा तो उसे सच पाया। न मानता तो गिरना तो ध्रुव ही था, कभी-कभी नीचे को देखने से भी भय लगता था। कोई मित्र-मण्डली मेरे साथ न थी, इस बात पर पश्चात्ताप करता हुआ, मैं नीचे उतरा। चार बज चुके थे। शीघ्र ही कुलियों से विदा ले, ताँगे पर चढ़कर चल दिया। भावों के हिंडोले में झूलता हुआ, अपने जीवन को धन्य मान रहा था कि पूना आगया।

९--ग्राम्य जीवन के आनन्द

विचार-तालिका:—

(१) अवर्णनीय मिठास।
(२) प्रातःकाल ; जंगल का आनन्द।
(३) दिन का काम ; निश्चिन्तता।

(४) संध्या ; रात्रि ।
(५) बाग़; तालाब; खेतों की क्यारियाँ ।
(६) शिक्षा, सामाजिक जीवन; स्वाभाविकता ।

कोलाहल से दूर, आधुनिक सभ्यता के अछूत और सरलता के सपूत ग्राम्यजीवन में जो आनन्द है, वह नगरों की भन-भन में मगन मनुष्यों को कहाँ प्राप्त ? यद्यपि वहाँ न बिजली के पंखे हैं, न नल का जल; न दमदमाती लम्पें हैं, न मोटर वा रेल का पथ ; न मेवे और फलों की मण्डियाँ हैं, न मिठाइयों की दूकान। परन्तु, फिर भी वहाँ कुछ ऐसी मिठास है कि वहाँ सचमुच स्वर्ग का वास है।

प्रातःकाल उठिए। घड़ी देखने का काम नहीं। वहाँ तो घड़ी-घड़ी प्रकृति अपनी घड़ी लिये खड़ी है। धूप और चाँदनी से ही समय जान लिया जाता है, तारे भी उसमें सहायता करते हैं। जंगल में जाइए। लहलहाते हुए वृक्ष अपने पत्तों के बहाने हाथ हिला-हिलाकर बुलाते हैं। समीर अपने सुखावह स्पर्श से मुख को खिला देता है। खुले मैदान में शौच-क्रिया से निवृत्त हूजिए। किसी लखपती नगर-वासी का शौचालय भी उतना विस्तृत और स्वास्थ्यकर न होगा, जितना कि ग्राम के कंगला तेली का। कुएँ की मुँडेर पर ताज़ी दाँतुन करते समय और सर्द पानी से स्नान करके डण्ड लगाते समय तो आनन्द की सीमा नहीं रहती। कहाँ वह वायु-सेवित सतेज ललाट और कहाँ गन्दगी

से भरे नगरों के निवासियों के नीरस चेहरे ? फिर कहाँ दुहनी से उठता हुआ फेनवाला गर्मागर्म दूध और कहाँ दहकती हुई चाय ? कहाँ धौरी के दही से निकली हुई लोनी और छाछ और कहाँ दुकानों के सिंके हुए पकवान ?

दिन में गौएँ चराई तो व्रज के गोपालों की भाँति क्रीड़ा करते रहे। हल जोता तो परिश्रम द्वारा जीवन सफल किया। काम करना और मगन रहना; 'न माधो के लेन, न ऊधो के देन।' निश्चिन्तता ही इस जीवन का सार है। संसार के छल-छिद्र से दूर रहते हैं। वेद और उपनिषद् का तत्व जीवन में ही मिला हुआ है। भोजन और पहनाव। इतना साधारण, इतना स्वाभाविक कि चाहें तो ऋषि-जीवन व्यतीत करें। लोक-हित के लिए तो मानो ग्रामीणों का जन्म ही हुआ है। उन्हींके परिश्रम की कठिन कमाई हमारी वेष-भूषा, खान-पान आदि का आधार है।

संध्या हुई। घर लौटे। गाय की सेवा की। बैलों को चारा डाला। चौपाल पर चार आदमियों में मन बहलाया। मोटा-झोटा जो मिला पेट भरकर खाया। बन पड़ा तो रामायण की पोथी पढ़ ली। बाल-बच्चों से बातें कीं। सो गये। गहरी नींद आई। उठे तो वही पुनीत प्रातःकाल। चिड़ियाँ चहक रही हैं; और भगवान् भास्कर मुस्कुराते हुए चले आ रहे हैं।

यदि ग्राम के समीप कोई नदी वा तालाव हुआ, तो आनन्द चौगुना हो गया। वहीं पशु भी कलोल करते हैं और वहीं अपना भी मनोविनोद हो रहा है। जहाँ बाग़ बग़ीचे हैं, वहाँ के सुख का तो कहना ही क्या। ताज़ा ताज़ा फल खाने को मिल जाता है और मनोहर दृश्य देखने को। यह कुछ भी न हो तो क्या ? खेतों की क्यारियों में ही केसर के से फूल खिले रहते हैं। फूली हुई सरसों का सुहावना दृश्य मीलों तक पीताम्वरी छटा उपस्थित कर देता है। समय समय पर रमास और मटर की फलियाँ, चने के होले, मक्का की भुट्टियाँ, वाजरे की वालें, महकती हुई सेंदें, खिलते हुए ख़रवूज़े, रस-भरे पौड़े, गुड़ की भेलियाँ, मेंथी, वथुए का साग, गाजर, मूलियाँ आदि प्रत्येक ऋतु के रसमय पदार्थ प्राप्त होते हैं। उन धुली हुई गाजरों को खाते-खाते पौधों में पानी लगाने में जो स्वाद और आनन्द है, वह रसगुल्लों में नहीं।

कहा जा सकता है कि वहाँ शिक्षा की कमी है ; ज्ञानविज्ञान के साधन वहाँ नहीं है। सामाजिक जीवन की विविधता भी वहाँ नहीं है ; पशुओं का-सा जीवन है। परन्तु, प्रकृत जीवन के सामने इस जञ्जाल का मूल्य कितना है ? हमारी ज्ञान-वृद्धि के साथ-साथ अशान्ति का साम्राज्य वढ़ गया है। शरीर-सेवा, और भौतिक सुख के ही पीछे हम पड़ गये हैं। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का, एक जाति दूसरी जाति का, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का, किस

प्रकार गला घोंट रहा है, इसे कौन नहीं जानता ? कर्तव्य का क्षेत्र तो ग्रामों में भी कम नहीं, तत्वज्ञान के लिए वहाँ का एकान्त जीवन ही अच्छा है। दुर्व्यसनों से दूर रहने के लिए ग्राम सुरक्षित दुर्ग हैं। जीवन की सरलता और विचारों की विमलता वहाँ से बढ़कर अन्यत्र दुर्लभ है। भ्रातृ-भाव और सहानुभूति की तो ग्राम मानों जन्मभूमि ही हैं। यदि कृत्रिमता के कमनीय कलेवर में हमारी आँखें न उलझ गई हों, तो ग्राम्य जीवन ही स्वाभाविक जीवन है। उसमें सुर-मन-मोहक मधुरता और बाल-सुलभ सरलता है।

१५—स्वामी विवेकानन्द

पूर्व विचारः—

(१) जन्म ; वंश; पूर्वज ।
(२) शिक्षा, विद्यालय-जीवन ।
(३) आत्मिक अशांति। श्रीरामकृष्ण परमहंस के दर्शन ।
(४) सन्यास, योग-साधन ।
(५) अमेरिका-इङ्गलैण्ड-भ्रमण; वेदान्त का प्रचार ।
(६) कोलम्बो से अलमोड़ा तक ।
(७) शरीर त्याग ।
(८) जीवन-विचार ।

बालक नरेन्द्र ने ९ जनवरी, १८६२ ई० को जन्म लिया था। यही बालक पीछे स्वामी विवेकानन्द के नाम से विख्यात हुआ, जिसकी गणना संसार के सर्वोत्तम उपदेष्टाओं, और आध्यात्मिक तत्वज्ञानियों में की जाती है। वह कायस्थ जाति के दत्त-वंश का रत्न था। उसके पूर्वज सरल, भक्त, और धर्म्मजीवन थे। उसके पितामह ने अपने अन्तिम जीवन में सन्यास ग्रहण किया था, और उसके पिता कलकत्ता हाईकोर्ट के अटर्नी (वकील) थे। उस बालक की माता विचित्र मेधावती थीं। दत्तवंश की इस गहन भक्ति-परायणता, तार्किक सूक्ष्मदृष्टि और प्रखर प्रतिभा में वह बीज छिपा हुआ था, जो स्वामी विवेकानन्द में अङ्कुरित, पल्लवित, कुसुमित और ललित फलान्वित हुआ।

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात', यह कहावत नरेन्द्र-नाथ पर चरितार्थ होती थी। बाल्यकाल से ही उनमें वह सहानुभूति, भ्रातृ-भाव, विशुद्ध भक्ति, भगवत्प्रेम और अध्यात्मानुराग पाया जाता था, जिसने कि उन्हें अन्त में विश्व-विख्यात बना दिया। वे जब स्कूल में थे, तभी से हिन्दू-दर्शनों के अध्ययन में परायण रहते और प्रसिद्ध तत्वज्ञानी हर्बर्ट स्पेन्सर की पुस्तकें पढ़ा करते थे। कहा जाता है कि कालेज में पहुँचकर उन्होंने स्वयं स्पेन्सर को एक पत्र लिखा था, जिसमें उसके कुछ आध्यात्मिक विचारों की आलोचना की गई थी। उस पत्र में उन्होंने जिस प्रतिभा का परिचय दिया था, उसे देखकर स्पेन्सर भी मुग्ध

हो गया था, और उसने उन्हें सत्य की खोज के लिए प्रोत्साहित किया था।

अब वह समय आया, जब नरेन्द्र के विचारों में क्रान्ति उत्पन्न हुई। वे यूरोपीय दर्शन-ग्रन्थों को पढ़ते, परन्तु उनके पदार्थ-वाद से उनकी तृप्ति न होती थी। वे कट्टर ईश्वर-वादी थे। उनकी पिपासाकुलित आत्मा सत्य की खोज के लिए छटपटा रही थी। वे "बी. ए." पास कर चुके थे; कानून की तैयारियाँ कर रहे थे; परन्तु, उनका मस्तिष्क अन्धकार और शङ्काओं से पूर्ण था; उनके मनस्ताप का ठिकाना न था। वे ऐसे आध्यात्मिक गुरु की खोज में थे, जो उनकी शङ्काओं का निवारण करके उस अन्धकार को दूर करे।

उनकी यह चिरकांक्षित आशा पूर्ण हुई और उन्हें दैवी प्रकाश के दर्शन हुए। नरेन्द्र के एक चचा उन्हें श्री रामकृष्ण परमहंस के पास ले गये। परमहंस पहुँचे हुए महात्मा थे—उन्होंने आत्मा को जान लिया था। यह नरेन्द्र के जीवन-नाटक का पट-परिवर्तन था। इस मिलन में अद्भुत हृदय-स्पर्शिता थी। प्रथम दर्शन ही ने गुरु-शिष्य को बाँध दिया। उस वीतराग, तपोधन साधु ने अपने इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्ण की गुणावली में कुछ गाने के लिए कहा। विवेकानन्द ने स्वर-सर्वस्व से मधुर तान छेड़ी, और ऐसी छेड़ी कि अनेक शिष्यों से परिवेष्टित ध्यानस्थ गुरु की हृत्तंत्री के तार झङ्कार उठे। दिव्यानन्द और भगवान् कृष्ण की प्रसन्न

आभा से उनका मुखमण्डल आलोकित हो गया; उस गायन-जनित भव्य दर्शन की कल्पना हमारे शरीर में थरथरी उपजाती, और हिन्दू हृदय को भक्ति से भर देती है। इस प्रकार गुरु-शिष्य के उस जीवन-सम्बन्ध का आरम्भ हुआ, जिसने शिष्य के भविष्य-जीवन की अखिल धारा को वदल दिया।

१६ अगस्त, १८८६ ई० को श्रीरामकृष्ण ने अपनी मानव-लीला संवरण की। उस समय उनके अनेक शिष्यों ने सांसारिक जीवन छोड़कर श्री रामकृष्ण-समाज का संगठन किया। स्वामी विवेकानन्द ने भी सन्यास लिया, और वेदान्त-प्रचार के लिए सहर्ष अपना जीवन समर्पित किया। कुछ काल अपने गुरुभाइयों के साथ कार्य करके वे हिमालय में योग-साधन के लिए चले गये। तिब्बत पहुँचकर उन्होंने वौद्ध मत का भी अध्ययन किया। फिर समस्त भारत में भ्रमण करके वेदान्त की विजय-पताका फहराई। इसी समय मदरास प्रान्त के कुछ लोगों ने शिकागो में होनेवाली धार्मिक महासभा में स्वामी विवेकानन्द को भेजने का प्रस्ताव किया। चन्दा एकत्र किया गया, और स्वामीजी अमेरिका पहुँचे।

अमेरिका पहुँचकर उन्हें महाविपत्ति का सामना करना पड़ा। चन्दे के थोड़े से रुपये समाप्त होगये। अपरिचित देश में स्वामीजी को द्वार द्वार भटकना पड़ा। उसी समय एक बुढ़िया की दृष्टि उनपर पड़ी। उनके यहाँ कुछ चुने हुए मित्रों का भोज

होनेवाला था। यह सोचकर कि स्वामीजी का यह विचित्र वेष मित्रों के विनोद का कारण होगा, उसने उन्हें भी निमन्त्रण दिया। भोज के समय विनोद के स्थान में स्वामी ने अपने मस्तिष्क और हृदय के बल से बुढ़िया के मित्रों को चकित ही नहीं कर दिया, वरन् अपना प्रशंसक भक्त बना लिया। हिन्दू-दर्शन पर स्वामीजी के प्रतिभाशाली वार्तालाप से उन्हें पता लगा कि उनके लिए उस विषय का समझना भी कठिन है।

फिर क्या था ? अमेरिका में उनकी धूम मच गई। धार्मिक महासभा में उन्होंने जिस प्रकार भारत का मस्तक ऊँचा किया, उस पर वहीं के 'न्यूयार्क हैराल्ड' पत्र ने लिखा था :—

"धार्मिक महासभा में विवेकानन्द निस्सन्देह महान् मूर्ति हैं। उनका भाषण सुनने के पश्चात् हमें अनुभव हुआ कि इस विद्वान् राष्ट्र के लिए धर्म-प्रचारक भेजना कितनी मूर्खता है।"

अमेरिका के अनेक नर-नारी उनके शिष्य बन गये। वेदान्त समाज की स्थापना भी उन्होंने वहां की। उनके शिष्यों में श्रीयुत सैण्ड्सबर्ग (स्वामी कृपानन्द), कुमारी मारगैरेट नोविल (भगिनी निवेदिता) आदि ने केवल शिष्यत्व ही ग्रहण नहीं किया, वरन् वेदान्त के प्रचार में अपनी समस्त शक्ति तथा योग्यता भी लगाई। वहाँ से वे इङ्गलैण्ड गये और वहाँ दो महीने तक वेद तथा उपनिषदों पर व्याख्यान देकर सम्मानित हुए।

१८९६ ई० में स्वामीजी अपनी जन्मभूमि भारत को लौटे और कोलम्बो में उतरे। कोलम्बो से अलमोड़ा तक के भ्रमण में मातृ-भूमि ने इस प्रकार बाँह पसार कर उनका आलिङ्गन किया कि वह भ्रमण ही एक जलूस-सा हो गया। जहाँ जहाँ वे गये, उन्होंने वेदान्त का मंत्र जनता में फूंका। उनकी सबसे बड़ी इच्छा यही थी कि वेदान्त का सार्वभौम प्रचार हो, और हिन्दू जाति सदाचार अध्यात्म तथा तत्वज्ञानमें अन्य जातियों को प्रकाश दिखानेवाली रहे। स्वदेश में भी इसके लिए उन्होंने प्राण-पण से चेष्टा की। अथक परिश्रम करते करते उनका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। इसी कारण वे जापान का निमंत्रण भी स्वीकार न कर सके। परन्तु स्वास्थ्य के पीछे उन्होंने अपना कार्य न छोड़ा।

१९०२ ई० के जुलाई मास का मनोरम और शुभ्र प्रभात-काल था। स्वामी जी ने ध्यान-योग किया, फिर संस्कृत में कुछ नवीन शिष्यों को उपदेश दिया। दोपहर पीछे वेद-ज्ञान से आत्म-तुष्टि करके वे फिर समाधि-लीन हुए। संध्या के समय शान्त और नीरव भ्रमण किया। टहलकर लौटे तो प्रार्थना करने बैठ गये, और दिव्यालोक में निमग्न हो गये। रात के नौ बजे उनकी अविनाशी आत्मा देह-बन्धन को छोड़कर ऊर्ध्वलोक को उड़ गयी।

स्वामी विवेकानन्द के केवल ४० वर्ष के जीवन में 'सत्यं, शिवं सुन्दरम्' का कैसा उज्ज्वल मिलाप है! कैसा आश्चर्य-जनक

और जादूभरा उनका प्रभाव था ! उनका स्वरूप तेजस्वी और प्रभुता-सम्पन्न था; उनकी वाणी में गौरव-भरी गूँज थी। वे अपने मनोभावों को बड़ी अच्छी तरह व्यक्त करते थे। इन सब का उपयोग उन्होंने आर्य-गौरव को बढ़ाने और आर्य धर्म के प्रचार में किया। उनका हृदय प्रेम और दया से पूर्ण था। उनकी देश भक्ति भी अगाध थी। वे अपने भाषणों में भारत के शिखरासीन गौरव-काल का वर्णन करते करते हर्षातिरेक से झूमने लगते थे। उन्होंने वेदान्त को नवीन रूप में रखा। वे वैज्ञानिक विचार-वेत्ता थे; छिद्रान्वेषण उनका काम न था। उन्होंने जो कुछ ज्ञानार्जन किया, सब मातृ-भूमि के चरणों पर चढ़ा दिया। अपने प्रबुद्ध जीवन से वे भारत में नवजीवन भर गये। ऐसे ही सपूत, देश का सिर ऊँचा उठाते, और मरकर भी अमर बन जाते हैं।

८—निन्यानबे का फेर

विचार सूची :—

(१) लाला भोलानाथ और नन्दू का जीवन।
(२) लालाजी की धर्म-पत्नी का पश्चात्ताप।
(३) लालाजी का उत्तर।
(४) ललाइन की करुणा।
(५) निन्यानवे की पोटली; परिणाम।

लाला भोलानाथ की हवेली शहर के अच्छे घरों में गिनी जाती थी। वे बड़े साधु-स्वभाव, कृती और मितव्ययी थे। उनकी धर्म-पत्नी भी दया का अवतार और भक्ति की प्रतिमा थीं। उनका पुत्र दीनानाथ और कन्या विमला भी अपने मां बाप की होनहार सन्तान थे। सब के सब इतना सरल जीवन बिताते थे, कि पास पड़ोस के ही नहीं, नगर के सभी लोग उनका नाम लेते थे। उनके पड़ोस में एक नन्दू हथेरिया भी रहता था। मिट्टी के वर्तन और खिलौने बनाकर वह चैन की छानता था। जो कुछ कमा कर लाता, वह सब खाने पीने में नित्य उड़ा देता था। चार पैसे पीछे डालना तो उसने सीखा ही न था, न उसे कल की चिन्ता थी, न आज का विचार। विपत्ति का वह ध्यान ही न करता था, सन्तान के लिए भी कभी सोचता न था। नित्य उसके घर में सुगन्धित भोजन की गन्ध और मसालों की महक उठा करती थी। आज पूड़ियाँ उड़ रही हैं, कल हलवा; परसों दही-वड़े आदि की चाट बन रही है, तो अतरसों क्षीर-पाक। लालाजी और नन्दू के जीवन में उतना ही अन्तर था जितना कि दोनों ध्रुवों में।

लालाजी की धर्म-पत्नी अपने चौबारे से यह सब दृश्य देखा करती थी। एक दिन उनसे न रहा गया और अपने स्वामी से कहने लगी कि आप इतना कमाते हैं फिर भी खाने पीने में कंजूसी करते हैं। नन्दू की ओर तो देखिए। परिश्रम करता

है और जीवन का आनन्द लूटता है। ऐसा भी क्या, भगवान् धन दे तो उसका उपभोग पूर्ण-रूप से करना चाहिए। हमारा जीवन इस धन की रखवाली के ही लिए तो नहीं बना है। मैं मानती हूँ कि आप समय-समय पर दुखियों की सहायता करने में पीछे नहीं रहते; तो भी अपने शरीर पर उतना व्यय नहीं करते, जितना कि आप जैसे धनी को करना चाहिए। मेरी समझ में तो यह बात आपको शोभा नहीं देती।

भोलानाथ नाम के भोलानाथ थे, थे बड़े चतुर; ताड़ गये कि श्रीमतीजी का मन भोग के आनन्द ने लुभा लिया है। ऐसे मनुष्य थोड़े होते हैं, जो जीभ को लगाम लगा सकें। जीभ के स्वाद के पीछे कितने अपना जीवन नहीं दे बैठे? जीने के लिए खाना और खाने के लिए जीना, इन दोनों का अन्तर लाला भोलानाथ जानते ही थे, अपने जीवन में उसका व्यवहार भी करते थे। खाना उनका सर्वस्व न था, वे शरीर को पुष्ट करने-वाला, किन्तु सादा भोजन ही पसन्द करते थे। अपनी पत्नी के प्रश्नों का उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया—"प्रिये! खाने-पीने के लिए ही यह शरीर नहीं बना, ये तो इसकी रक्षा के साधन हैं। परोपकार के लिए भगवान् ने हमें यह शरीर दिया है। यह शरीर औरों के लिए भार-रूप न बन जाय, इस बात का ध्यान सब को रखना चाहिए। मिताहार और मित-विहार इसके लिए परम आवश्यक है। ऐसा न करने से हम परावलम्बन की ओर

झुक जाते हैं। यदि हमारे पाँव सौर से बाहर निकल गये, तो ठीक न होगा, "तेते पाँव पसारिए जेती लाँबी सौर।" इससे हमारी स्वाधीनता छिन जाती है और चिन्ताएँ आ घेरती हैं। चतुरों की दृष्टि भविष्य पर सदैव रहती है। भगवान् न करे, नन्दू के घर में कल ही से रोग का प्रवेश हो जाय, तो बेचारा क्या करेगा ? उस समय इसकी दशा कितनी दयनीय होगी ? यह आनन्द में भूला हुआ है, इसे आगे की कुछ चिन्ता नहीं। न बाल-बच्चों का कुछ ध्यान है, न अपने तन का। ऐसी विचार-शून्यता पशुओं का लक्षण है, मनुष्य को तो भगवान् ने बुद्धि दी है।"

यह सुनकर उनका हृदय पिघल गया। नन्दू के अँधेरे भविष्य की कल्पना से ललाइन की आँखों से करुणाश्रु टपकने लगे। वे पतिदेव से बोलीं—"तो क्या आप अपने पड़ोसी को यों ही भटकने देंगे ?" "अच्छा, इसकी युक्ति सोचूँगा।" इतना कहकर लालाजी दूकान को चले गये।

लौटकर आये तो उन्होंने एक पोटली में निन्यानवे रुपये बाँधकर नन्दू के घर में डाल देने को कहा। पत्नी ने बिना कुछ किन्तु परन्तु किये उनकी आज्ञा का पालन किया। नन्दू ने पोटली पाकर ईश्वर को धन्यवाद दिया। परन्तु खोला तो निन्यानवे ही निकले। उसने सोचा कि एक और हो तो पूरे सौ हो जायँ। पहली बार जीवन में उसे अर्थ-चिन्ता लगी। एक एक

दो-दो आना करके उसने रुपया पूरा किया और सौ की पूरी पोटली को वह सतृष्ण नेत्रोंसे देखने लगा। फिर सोचा कि ऐसी एक और हो तो कैसा ? बस उसने जोड़ना आरम्भ किया। अब हलवा और रसगुल्ले कहाँ ? वही दाल-भात और रोटी का सादा भोजन रह गया। ज्यों-ज्यों पोटली में रुपये बढ़ने लगे, त्यों-त्यों नन्दू के भोग-विलास घटने लगे। लालाजी ने पन्द्रह दिन पश्चात् पत्नी से पूछा कि अब नन्दू का क्या ढंग है। उन्होंने लालाजी की सराहना करते हुए कहा—नाथ! अब तो वह निन्यानवे के फेर में पड़ गया है।"

६—वायु-यान

विचार-सूची :—

(१) पुष्पक विमान और हवाई जहाज।
(२) गुब्बारे और हाइड्रोजन गैस का आविष्कार।
(३) वायु-पोत वा मोटर मशीन से चलनेवाले गुब्बारे।
(४) वायुयान और गुब्बारों का अन्तर।
(५) वायुयानों की करामात।
(६) व्यापार और जीवन पर प्रभाव।
(७) आकाश-विहार।
(८) रणक्षेत्र की भयङ्कर मूर्ति।

पुष्पक विमान पर चढ़कर राम लङ्का से अयोध्या आये थे, यह कथा आज से २५ वर्ष पूर्व स्वप्न की सी बात प्रतीत होती थी। किन्तु, आज घरघराते हुए हवाई जहाज जब हमारी नजरों के ऊपर मँड़राते हैं, तब हमें वह स्वप्न प्रत्यक्ष रूप में दिखाई देता है। विज्ञान की माया विचित्र है। कुछ वर्ष पूर्व, लोग जिन बातों पर हँसते थे, आज वे हमारे दैनिक जीवन का अङ्ग हो रही हैं।

वायुयानों की कथा के पूर्व गुब्बारों तथा वायु-पोतों की कहानी जानना बड़ा जरूरी है। ईसा की अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग में बैलून यानी गुब्बारे का आविष्कार हुआ, इसके पश्चात् एक प्रकार की गैस का अन्वेषण हुआ, जिसे हाइड्रोजन गैस कहते हैं। इसी गैस के द्वारा ये गुब्बारे हवा में तैरते-फिरते थे। जिस प्रकार पूर्व काल में नौकाएँ तथा जहाज़ पालों द्वारा पानी पर चलते थे, उसी प्रकार ये गुब्बारे हाइड्रोजन गैस के बल पर हवाके खिलौने थे।

बीसवीं सदी के आरम्भ में एक नया आविष्कार हुआ। अग्निबोट की तरह इन गुब्बारों का मोटर मशीन से चलाना संभव हो गया। जर्मनी के काउण्ट ज़ैपलिन नामक व्यक्ति ने यह आविष्कार किया और उसीके नाम पर ये वायु-पोत "ज़ैपलिन" के नाम से प्रसिद्ध हुए तथा जलपोतों की भाँति चलने लगे। जर्मन-महायुद्ध में इनसे काम लिया गया था। परन्तु, ये वायु-पोत वायु-यान नहीं कहे जा सकते।

वायु-यान की बात ही और है। गुब्बारे और वायु-पोत हवा से हलकी चीजें हैं, और वे हवा में हाइड्रोजन गैस के सहारे उड़ते हैं। परन्तु, वायु-यान हवा से भारी पदार्थ है और वह मशीन के बल से हवा को चीरता हुआ जाता है। यही दोनो में अन्तर है। वायु-यान वास्तवमें हवा में उड़नेवाली मशीन है।

वायुयानों की करामात हम अपनी आँखों देख ही रहे हैं। जिस पृथ्वी की प्रदक्षिणा की कल्पना भी कठिन थी, वह इन वायु-यानों ने प्रत्यक्ष करके दिखा दी। अटलांटिक महासागर को कितने ही उड़ाके पार कर चुके। कराँची से लण्डन को डाक इन्हींके द्वारा जाने लगी। देश विदेशों का अन्तर अब कुछ दिनों का सफ़र रह गया। भारत से इंगलैंड जाने में अब केवल पाँच दिन लगते हैं।

अभी इन वायु-यानों का आविष्कार हुए २५ ही वर्ष हुए हैं, इतनेही अल्पकाल में इनमें अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है। व्यापार पर तो इनका विश्व-व्यापी प्रभाव पड़ेगा ही, हमारे जीवन और हमारी आदतों में भी एक भारी विप्लव मच जायगा। जो परिवर्तन रेलों और पानी के जहाज़ों ने हमारे जीवन में किया है, उससे कहीं अधिक गम्भीर परिवर्तन भविष्य में इन वायु-यानों द्वारा होने की सम्भावना है।

वह दिन दूर नहीं, जब आकाश में चलते-फिरते इन नगरों में मनुष्य विहार किया करेंगे। इनके स्थिर हो जाने पर,

जैसी कि आशा है, आकाश में मेले लगा करेंगे; उत्सव हुआ करेंगे; खेल कूद होंगे और आकाश हमारा घर-आँगन हो जायगा।

रणक्षेत्र में इन विशालकाय व्योमचारियों से जब अग्निवर्षा हुआ करेगी, तब तो प्रलय ही मच जायगा। कोई गढ़, कोई दुर्ग, कोई पर्वत, कोई सीमान्त प्रदेश अथवा सागर का विशाल वक्षस्थल भी इनकी गहरी मार से शरण न दे सकेगा। गत महायुद्ध में तो इनकी उम्र तीन ही चार वर्ष की थी, तभी इन्होंने क्या कम ग़ज़ब ढाया था। अब तो ये तरुण हो गये हैं। भगवान् न करे कि कभी कभी इस प्रलय-कार्य में प्रवृत्त होकर ये अपना दुष्ट रूप दिखावें।

१०—वर्षा-विहार

गर्मी की तपन से तपी हुई पृथ्वी के ओठों पर वर्षा की बूंदें पड़ते ही उसका मुख हरा-भरा हो गया। उसके झुलसे हुए गात्र पर रोमावली-सी खड़ी हो गई। वृक्षों और बेलों पर बहार आ गई। घरों के भीतर वा ख़स की टट्टियों से बाहर निकलकर विहार करने के दिन भी आ गये। चारों ओर जंगल में मंगल होने लगा। प्रकृति ने अपनी धानी साड़ी पहन ली और उसके दूत बादल प्रियतम के संदेश ले-लेकर दौड़ने लगे। कोयल की 'कुहू कुहू' और पपीहा की 'पी पी' ध्वनि हृदयों में चुभने लगी।

जहाँ रेतीली लपट से आँखों में तिल्ले उठते थे, वहाँ जल ही जल हो गया और उनपर विहार करते हुए सारस तथा चक्रवाक आँखों को हँसाने लगे।

सावन की मनभावनी फुहारों के लहरुए लहरा रहे हैं। धीमा धीमा शीतल पवन चल रहा है। मतवाले मयूर इस प्रकार नाच रहे हैं, मानों अपने पंखों के चँदोवे दिखा-दिखाकर इन्द्र से कह रहे हों कि लो हमारी ये आँखें तुम्हारे सहस्र नेत्रों से किसी प्रकार कम नहीं। बूंदों की टप टप पानी पर मोती-से उछाल रही है। उस समय पानी में क्रीड़ा करती हुई गाय भैंसों और ग्वाल-बालों की डुबकियों से बूंदों की होड़-सी हो चली है। खेतों के पौध: और वृक्षों की डालियों पर हरियाली ही हरियाली बरस रही है। कहीं कहीं क्यारियों में वीर-वधूटियों के बहाने वर्षा ने अपनी रत्नराशि से कुछ लाल, पृथ्वी पर बखेर दिये हैं। पोखरों में मेढक टर्र टर्र करते हुए अपना पेट ही फाड़े डालते हैं। वृक्षों पर मञ्जीरे और झींगुर झङ्कार रहे हैं। बगुले पंख फैला-फैलाकर चाँदनी-सी तान रहे हैं और उड़ते हुए सारसों की अवली हवाई जहाज़ों की उपमा बन रही है।

नदियाँ अठखेलियाँ करती हुई इतरा रही हैं। ऐसी भँवराती हुई चलती हैं कि अपने आप ऐंठी जाती हैं। पेड़ों के पाँव उखाड़ती और किनारों को काटती हुई वे अपनी प्रगल्भता का परिचय दे रही हैं। झरनों और प्रपातों का घड़-घड़-नाद घुमड़ते हुए

बादलों को जवाब-सा देता है। मेघों की तड़कन के साथ उनका तमतमाते हुए उतरना और पहाड़ों की चोटियों की दड़कन के साथ उनका थरथराते हुए फिसलना ऐसा जान पड़ता है, मानों दो पहलवान् अखाड़े में पैतरे बदल रहे हों। तालाबों में कमल मुकुलित-वदन खड़े हैं। उन पर पानी की बूँदें पड़तीं और ढल जाती हैं। उनका उस ओर ध्यान ही नहीं, मानों वे कमलनयन की प्रतीक्षा में उत्कण्ठ हैं।

बाग़ों में विचित्र ही बहार है। वर्षा का रस रसालों के रूप में टप टप गिरता हुआ टपका बन जाता है, और भद भद गिरती हुई जामुनें मानों भादों के नामकरण-संस्कार की सूचना देती हैं। इतना ही नहीं, और आगे बढ़कर जम्बू-द्वीप का नाम भी वे अपने ही जन्म के कारण बताती हैं। भारत का विचित्र मेवा आम के बहाने वर्षा अपना सर्वस्व बाग़ों को देकर वहाँ विहार करती जान पड़ती है। और 'बाबा जी के बाग़ में दुशाला ओढ़े खड़ी हुई' मोतियों से जड़ी कुकड़ी की तो बात ही निराली है। किसानों की वह लाड़िली कैसी भोली भाली और सहज सुन्दरी है।

आकाश के खेलों की तो उपमा ही नहीं मिलती। बादलों के झुण्ड एक से एक नई क्रीड़ा करते हुए अनेक रूप धारण करते हैं। उनकी चपलता देखकर वर्षा में बन्दर भी भीगी बिल्ली बन जाते हैं। कभी वे गाय, बछड़े-से दिखाई देते हैं, कभी हाथी और सिंह-से बन जाते हैं। कभी पहाड़ों-से प्रतीत होते हैं,

कभी वन-उपवन-से लगते हैं। कभी मन वहलाते हैं, कभी प्रलय मचाते हैं। उनके पास सब से सुन्दर खिलौना एक है। वह है इन्द्र-धनुष। बस, उनकी उस धनुही में विधाता की चित्रकारी समाप्त हो गई है। उसे देखकर वर्षा के आँगन में फिर और कुछ देखने को नहीं रह जाता। हाँ, बिजली की चमक में प्रकृति सुन्दरी के कङ्कण और जुगुनुओं के रूप में उसके केश-कलाप के पुष्प गुच्छ भी मनोहारिणी छवि देते हैं।

११—शरीर-रक्षा

विचार-तालिका :—

(१) आत्मा का मन्दिर ; शरीर-यंत्र।

(२) धर्म का प्रथम साधन।

(३) स्वाभाविक और कृत्रिम जीवन ; एक राजा और कणाद ऋषि।

(४) जातीय प्रतिष्ठा ; अर्जुन और उर्वशी ; दधीचि।

(५) सरल जीवन और उच्च विचार।

(६) स्वास्थ्य के नियम।

(७) तन, मन, धन का सम्बन्ध।

शरीर आत्मा का निवास है, उसका मन्दिर है। यही वह रथ है जिसपर बैठकर मनोदेव इन्द्रियों के घोड़े दौड़ाते, और आकाश पाताल की सैर किया करते हैं। यदि इसके पहिये ढीले हो

जायँ—उनकी कमानियों में दम न रहे—तो इतने दच्चे लगें कि सारी कमर रह जाय और जीवन-यात्रा दूभर हो जाय। इसके कल-पुर्जे कील-काँटे इतने पेचीदा हैं कि उनका सँभालना हँसी खेल नहीं, सूरे-पूरों ही का काम है। कुशल कारीगर ही उन्हें ठीक बिठा सकता है और इसका नव-निर्माण (Overhauling) तो कुछ अर्थ रखता है। जो इसकी धुरी का काँटा ठीक रखते और उचित रूप से इसकी देखभाल, साज-सँभाल करते रहते हैं, उन्हींके लिए यह हलका और सुखावह सिद्ध होता है।

"शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्।" अर्थात् निश्चय ही शरीर धर्म का सब से पहला साधन है। यदि शरीर स्वस्थ नहीं, तो मन स्वस्थ नहीं रह सकता; मन स्वस्थ नहीं, तो विचार स्वस्थ नहीं होते, और जब विचार स्वस्थ नहीं तो, धर्म की साधना कहाँ ? इसलिए, शरीर को स्वस्थ रखना हमारा परम कर्तव्य है, इसके बिना जीवन सुखमय हो ही नहीं सकता। बालक से लेकर बूढ़े तक और राजा से लेकर सन्यासी तक सब को शरीर-रक्षा का ध्यान रखना पड़ता है। शरीर स्वस्थ न हो तो सांसारिक भोग व्यर्थ हो जाते है। अच्छे से अच्छे पदार्थ, वस्त्र, आभूषण इत्यादि रोगी शरीर के लिए बोझ के तुल्य हैं। उसे उनमें फीकापन ही दृष्टि आता है; वे उसके सन्ताप का ही कारण होते हैं।

आत्मा परमात्मा का स्वरूप है। उसके इस मन्दिर को यदि हम स्वच्छ और शुद्ध न रखें, तो बड़ा पाप होगा। परन्तु, इस

पाप को हममें से कितने पाप समझते हैं ? अतिमात्रा में भोजन, विहार करना तो हमारे लिए साधारण-सी बात हो गई है, वरन् ऐसा न करें तो हम समझते हैं कि हमने शरीर का सुख ही क्या भोगा। प्रकृति ने हमारे खाद्य पदार्थों को जिस रूप में उत्पन्न किया है, उसमें हमने इतने परिवर्तन कर डाले हैं, उनसे इतने व्यञ्जन बना डाले हैं कि जीभ उनकी ओर ऐसी दौड़ती है कि रोके नहीं रुकती। हमने एक स्थान पर पढ़ा था कि एक राजा के यहाँ कुशल वैद्य इसलिए रखे जाते थे कि वे सुस्वादु भोजन के पश्चात् उसे वमन (उलटी) करा दिया करें, जिससे कि वह फिर शीघ्र ही अन्य स्वादिष्ट पदार्थ खा सके। इस चटोरेपन का फल यह हुआ कि कुछ काल में ही उसकी आँतें बोल गईं और वह जीवन की घड़ियाँ गिनने लगा। दूसरी ओर महर्षि कणाद को देखिए। वे परिश्रम के साथ एक-एक कण बीनकर सादा भोजन करते थे। आज उनका रचित वैशेषिक शास्त्र संसार को चकित कर रहा है। सरल जीवन और कृत्रिम जीवन के ये स्पष्ट उदाहरण हैं। दूर क्यों जायँ, अपनी ओर ही न देखें। प्रातःकाल से लेकर संध्या तक हममें से बहुतों का मुँह बकरी की भांति चलता ही रहता है। आँतों को आराम देना तो हम जानते ही नहीं। समझते हैं पेट खाली रहा, तो प्राण निकल जायँगे। यह शरीर के साथ अत्याचार नहीं, पाप नहीं, तो क्या है ? सच तो यह है कि हम बहुधा खाने के लिए जीते हैं, जीने के लिए नहीं खाते।

शरीर का सम्बन्ध केवल अपने ही तक होता, तौ भी कुछ बात न थी। मुख की तेजस्विता, शरीर की गठन और अङ्गों की चारुता पर जाति तथा देश की प्रतिष्ठा भी अवलम्बित है। जब हम किसी अँगरेज, फ्रेंच, जापानी, वा जर्मन जाति के बच्चे, युवक वा युवती को देखते हैं और अपने यहाँ के पीले-पीले चेहरों, और झुके हुए कन्धों तथा अस्थि-पञ्जरों से तुलना करते हैं, तो हृदय में हूक उठने लगती है। उस समय हम सोचते हैं कि इस प्रकार की दरिद्र-मूर्तियों को लेकर भारतवर्ष किसके सामने मुँह उठा सकता है। एक समय था, जब इसी भारत का पुत्र अर्जुन सुरलोक में गया, तब उसके तेजस्क वदन को देख अप्सरा उर्वशी उस पर मुग्ध हो गई। अर्जुन ने भी विनीत भाव से कह दिया—'कुल कलंक जनि देउ मातु हम भारतवासी।' आज हममें से कितने कुल-कलङ्क नहीं बन गये? जिस अवस्था में अन्य जातियों के मनुष्य युवा प्रतीत होते हैं, उसीमें हम बूढ़े जान पड़ते हैं। बहुत से तो जान भी नहीं पाते कि यौवन कब आया और कब गया। यह सब शरीर की उपेक्षा का परिणाम नहीं तो क्या है? जिस आर्य-जाति के ऋषि दधीचि की हड्डियाँ लेकर सुरपति इन्द्र ने अपना वज्र बनाया, उसकी यह दशा देख कलेजा ऊपर को आता है।

'सरल जीवन और उच्च विचार' हमारे मनस्वी पूर्वजों का मूलमंत्र था और उसकी सिद्धि स्वस्थ शरीर पर निर्भर है।

स्वास्थ्य-रक्षा के नियम जानने के लिए यों तो विज्ञान की एक शाखा आयुर्वेद अलग ही है, परन्तु कुछ मोटी-मोटी बातें हैं, जिनपर ध्यान रखने से स्वास्थ्य सहज नहीं बिगड़ता। शरीर की रचनाका आवश्यक ज्ञान प्रत्येक नर-नारी को होना चाहिए फिर अपने-अपने शरीर की विशेष बातों पर उसे स्वयं ध्यान रखना चाहिए। इतना होने पर जीवन के मुख्य आधार वायु, जल और भोजन-वस्त्र का उचित रूप से काम में लाना है। इनकी शुद्धता परमावश्यक है। शरीर की शक्ति चलने, फिरने, करने से क्षीण होती रहती है। उसकी पूर्ति के लिए नींद स्वाभाविक साधन है। गहरी नींद आने से हमारा रक्त फिर से वेगपूर्वक चलने लगता और हममें स्फूर्ति आ जाती है। इसके अतिरिक्त शरीर के रग-पुट्ठों को दृढ़ रखने तथा नसों में रक्त-सञ्चार के लिए किसी न किसी प्रकार का व्यायाम अत्यावश्यक है। सब दवाएँ छोड़कर केवल व्यायाम करने से ही शरीर नीरोग रह सकता है। व्यायाम की मात्रा भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए अलग-अलग होती है। बलाबल का विचार करके व्यायाम करने से ही लाभ होता है। गागर में सागर भरने के समान स्वास्थ्य के कुछ नियम नीचे लिखे जाते हैं:—

(१) शुद्ध और स्वच्छ वायु के सेवन पर सब से पहले ध्यान दिया जाय। प्रातःकाल शुद्ध और खुली हवा में भ्रमण करना सर्वोत्तम है। इससे हलका और अच्छा व्यायाम भी हो जाता

है। रात के समय मुँह ढँककर न सोया जाय। मकान में काफी दरवाज़े और खिड़कियाँ हों और वे खुले रहें। साँस सदैव नाक से ली जाय। गहरी साँस ली जाय और हवा को कम छोड़ा जाय।

(२) स्वच्छ और सर्द पानी पिया जाय। यदि जल स्वच्छ न हो तो औटाकर वा फिटकरी डालकर स्वच्छ कर लिया जाय। स्नान को भी पूर्ण महत्व दिया जाय। ठंडा वा ताज़ा जल ही स्नान के लिए अधिक उपयोगी है। रोगियों को गरम जल काम में लाना भी हितकर है। स्नान के पश्चात् शरीर को स्वच्छ और मोटे कपड़े से खूब रगड़कर पोंछ लिया जाय।

(३) भोजन खूब भूख लगने पर किया जाय, परन्तु भूखा भी न मरा जाय। एक बार का भोजन पचने पर ही दूसरी बार कुछ खाया जाय। दाल, भात, रोटा, शाक आदि का सादा, सुपच और पौष्टिक भोजन ही किया जाय। बहुत से मिश्रित पदार्थ वा मसालों के बने हुए भोजनों से बचा जाय। अपनी रुचि के अनुकूल पदार्थ चुन लिए जायँ और एक ही प्रकार का भोजन लगातार न किया जाय। बदलते हुए अन्न शाक आदि व्यवहार में लाये जायँ। भोजन के साथ स्निग्ध पदार्थ, जैसे घी आदि अवश्य खाये जायँ। दूध और फल स्वाभाविक तथा सात्विक भोजन हैं। भोजन नियत समय पर किया जाय, चबा-चबाकर किया जाय और भोजन के पश्चात् दाँतों को साफ़ कर लिया जाय।

(४) वस्त्र सादे किन्तु साफ़ सुथरे हों। तंग वा कसे हुए न हों। शरीर रोगी न हो तो व्यर्थ बहुत से वस्त्रों की आवश्यकता नहीं।

(५) व्यायाम नित्य और नियमित रूप से किया जाय। उतना ही व्यायाम किया जाय, जिससे थकावट न जान पड़े। प्रातःकाल का समय इसके लिए सर्वोत्तम है। रात का समय ठीक नहीं। व्यायाम के पूर्व स्नान किया जाय, अथवा व्यायाम के पश्चात् जब कि रक्त का सञ्चार साधारण रीति से होने लगे। भोजन के पश्चात् व्यायाम कदापि न किया जाय, न व्यायाम के पश्चात् तुरत भोजन किया जाय।

(६) गहरी और शान्त निद्रा स्वास्थ्य की सहचरी है। ६ से ८ घंटे तक सोना आवश्यक है। दस ग्यारह वर्ष तक के बच्चों को कम से कम १० घंटे सोने दिया जाय।

(७) नशीले द्रव्यों से जहाँ तक हो बिल्कुल बचा जाय।

इन बातों पर ध्यान देने से स्वास्थ्य ठीक रहेगा। आहार और विहार में सदैव संयम की बड़ी भारी आवश्यकता है। जो लोग वेदान्त की लटक में शरीर-सेवा को मूर्खता समझते हैं, वे भूलते हैं। तन, मन और धन का साथ है। जिसके पास पुष्ट तन नहीं, उसके पास विकसित मन वा मस्तिष्क नहीं। जिसके पास मन नहीं उसके पास धन वा वैभव नहीं। यह बात शङ्कातीत है। इसलिए, शरीर-संगठन की ओर प्रथम

दृष्टि होनी चाहिए। संक्षेप में इसके तीन साधन हैं—संयम, नियम और व्यायाम।

१२–किसान

मिट्टी से रत्न उत्पन्न करना किसान का ही काम है। उसकी पसीने की कमाई में सब का साझा है। वह एक रूप से मनुष्य मात्र का अन्नदाता और पशु-पक्षियों तक का पालनकर्त्ता है। दिन भर परिश्रम करके जब वह सोने को जाता है, तब यह भी नहीं सोचता कि मैंने संसार का क्या उपकार किया। उसके स्वार्थ में भी परार्थ है, उसकी सेवा बड़ी निष्काम है। कहते हैं कि जैसा धान्य होता है वैसी ही बुद्धि बनती है, अर्थात् जिस प्रकार की कमाई का पैसा होता है, आचार-बुद्धि पर उसका वैसा ही प्रभाव पड़ता है। एक जुआरी वा चोर के धान्य से कुमति, और मेहनती मज़दूर के धान्य से सुमति उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से, किसान का धान्य बड़ा उत्तम और सुबुद्धि-जनक है। उसके जीवन में साधु भाव ही प्रधान है।

उसकी दिनचर्या तो देखिए। प्रातःकाल उठना, खेत पर जाना, गाय, बैल आदि की सेवा करना, अपने ही हाथों से उत्पन्न किये हुए शुद्ध अन्न का भोजन करना और कठोर परिश्रम करके वसुन्धरा पर हरे हरे पौधे उगाना, कैसे आनन्दमय कृत्य हैं। फल फूलों से युक्त खेतों में अपने परिश्रम को फलता

फूलता देख उसे उतना ही आनन्द मिलता है, जितना कि पुत्र-जन्म से पिता को। एक ओर उसके बाल-बच्चे बैठे हैं, दूसरी ओर खेती लहलहा रही है। नीचे धरती माता और ऊपर किसी वृक्ष की छाया वा केवल अम्बर है। उसीमें मग्न हैं और काम कर रहे हैं। कितना संतोषी और पवित्र जीवन है। न शीत का भय है, न ताप की चिन्ता; न वर्षा से विचलित होते हैं, न वायु-वेग से व्याकुल। सभी ऋतुएं उनके सामने से हँसती खेलती निकल जाती हैं, और वे उनका आनन्द लूटते हैं। पके हुए अन्न का दाना-दाना समेटते समय का उनका परिश्रम बड़ा ही विलक्षण होता है। उस समय उन्हें अपने तन-बदन की भी सुध नहीं रहती, उनके कर्त्तव्य की पराकाष्ठा हो जाती है।

भारतीय किसानों की दशा देखकर करुणा उत्पन्न होती है। यहाँ की २५ करोड़ प्रजा के जीवन का आधार खेती ही है, वरन् यों कहना चाहिए कि इस देश के किसानों की जागृति तथा सुख-समृद्धि पर ही भारतवर्ष का उत्थान निर्भर है। वही किसान-जाति यहाँ महाकष्ट भोग रही है। अधिकांश किसानों के पास इतना भी द्रव्य नहीं कि वे समय पर खेतों में बीज डाल सकें, अच्छे बैल मोल ले सकें और उनका पालन कर सकें। इसके लिए वे प्रायः साहूकारों वा ज़मींदारों के आश्रित हैं। उनकी कठिन कमाई पर ये नर-गृद्ध ऐसे टूटते हैं कि उनका सारा मांस नोच-नोचकर उन्हें ठठरी बना देते हैं। न उनको अच्छा अन्न

खाने को मिलता है, न लागत का दाम शेष रहता है। यदि दुर्भिक्ष पड़ जाय, तो उनके प्राणों ही पर आ बनती है। दिन दिन उनके बल का ह्रास हो रहा है। दूध-घी की तो बात ही क्या, बेचारे बहुतेरे तो छाछ को भी तरसते हैं। छोटे-छोटे रोगों को भी सहन करने का बल उनमें नहीं रह गया, फिर भी मिथ्याभिमान पीछा नहीं छोड़ता। ऋण ले-लेकर विवाह आदि में अपव्यय करते हैं और उसके दुष्परिणाम भोगते हैं। "बुभुक्षितः किं न करोति पापं" अर्थात् भूखा क्या पाप नहीं कर डालता ? इस उक्ति के अनुसार उनका आचारिक पतन भी आरम्भ हो गया है। अपने अनन्त समय को वे आलस्य में बिता देते हैं।

जापान के किसानों की ओर देखिए। वहां भूमि की इतनी कमी है कि कहीं-कहीं तो एक-एक परिवार के भाग में एक खेत आता है। परन्तु, उसीमें वे सब कुछ प्राप्त करते हैं। किसी जापानी के पास एक खेत भी है, तो उसीके कोने में एक क्यारी छोटे से उपवन की भी होगी। बचे हुए समय में उनके बाल बच्चे और वे स्वयं रेशम आदि के वस्त्र बुनकर वा और कोई घरेलू धन्धा करके द्रव्य कमाते हैं। हमारे यहां भी सूत कातना ग्राम के बड़े-बड़े घरानों का धन्धा था, परन्तु हम अब उसे छोड़ बैठे हैं। हम बड़े बन बैठे हैं और हमारी आँतों पर चोट पड़ रही है। हम यह भूल गये हैं कि बड़प्पन का पिता परिश्रम है;

समय ही धन है। अमेरिका आज खेती की ही बदौलत संसार का महा समृद्धिशाली देश है। वहाँ का किसान मोटर में बैठकर अपने खेतों की सैर करता, और यहाँ के बड़े-बड़े जमींदारों को मोल ले सकता है। किन्तु, काम के समय हम उसे घुटन्ना पहने, और कुदाल हाथ में लिये अपने नौकरों के साथ खेत में पाते हैं। वह अपनी आवश्यकताओं के लिए दूसरों का मुँह नहीं ताकता, वरन् अपना भाग्य अपने ही हाथों बनाता है।

हमारे किसान भाई भी कोरी प्रतिष्ठा छोड़कर यदि अपने समय को काम में लावें, अपने काम में अपने को स्वतंत्र कर लें, तो कोई कारण नहीं कि उनके दुख दूर न हो जायँ। कोई आसमान से उनके कष्ट छुड़ाने नहीं आवेगा, अपना भाग्य उन्हें आप बनाना होगा। इसमें सन्देह नहीं कि देश के नेताओं तथा सरकार का ध्यान इस ओर प्रतिदिन बढ़ रहा है, तौ भी अपने दोष तो आप ही मिटाने होंगे। काम तो हमें ही करना होगा। इस रत्नगर्भा भारत-भूमि में इतनी उर्वरा शक्ति है कि उससे केवल यह देश ही धन-धान्य पूर्ण नहीं हो सकता, वरन् अपनी उपज बाहर भेज भेजकर विश्व का भरण पोषण कर सकता है। यहाँ का व्यापार, यहाँ का उद्यम, यहाँ का शिल्प, सब यहाँ की खेती पर ही निर्भर है। यदि हमारी शिक्षा खेती की उन्नति की ओर ही झुक जाय, तो हमारे युवक पढ़ लिखकर नौकरियों के लिए मारे-मारे न फिरें। कितनी भूमि बिना जुती ऊसर पड़ी रहती

है, और हम भूखे नंगे विदेशों में मजदूरी करके पराई ठोकरें खाते हैं ? इँगलैंड, फ्रांस, जर्मनी आदि के किसानों के परिश्रम तथा उनके ग्राम्य-सुखों की कल्पना भी हम लोग नहीं करते। जो सुख वहाँ के किसानों को है, यहाँ के अमीरों और रईसों को नहीं, इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है। वहाँ के ग्रामों के झोपड़ों में लक्ष्मी निवास करती है। वहाँ के किसानों की सुख-श्रीमही-पालों की स्पर्द्धा का कारण होती है। यदि हम भी वैसा ही परिश्रम करें, वैसी ही तत्परता से काम लें, तो हमारा स्वराज्य हमारे हाथ है। विश्वास रखिए, परिश्रम सदैव फल देता है।

१३—एक प्यारा चरित्र

[लक्ष्मण]

पूर्व विचार:—

(१) चरित्र की आन।
(२) सच्चा स्वरूप।
(३) युद्ध-प्रियता और निर्भीकता।
(४) नटखटपन और आज्ञा का अङ्कुश।
(५) चारित्रिक विजय।
(६) अनन्य सेवा।
(७) जीवन का फल।

लक्ष्मण ! तुम्हारे चरित्र में एक अनोखी आन है। राम लोक-ललाम हैं; कवि की कृति के नायक हैं। भरत नायक न सही, पर रामायण के प्राण हैं। और तुम ? तुम तुम्हीं हो। तुम्हारी बात में कुछ बात है और तुम्हारे ढंग में कुछ रंग। तुम राम के अनुजीवन हो। त्याग के तन हो, तपस्या के धन हो; वीरता की मूर्ति हो, पराक्रम की स्फूर्ति हो। तुम सेवा के अवतार हो, भ्रातृ-भक्ति के सितार हो; ओज की ओस हो, श्रद्धा के कोष हो। तुम क्षात्र-तेज के रोष हो और रण-प्राङ्गण के निर्घोष हो। तुम्हारी तड़प में एक कड़क है और तुम्हारी वाणी बड़ी बेधड़क है।

तुम्हारे सच्चे स्वरूप का दर्शन हमें स्वयंवर-सभा में हुआ। उपस्थित योद्धाओं पर गाज गिर चुकी थी। क्षत्रिय-समाज राजा जनक की "वीर-विहीन मही मैं जानी" को सह चुका था। तुम्हारे कानों में वह घोर पड़ी और तुम तड़प गये। राजा जनक ज्ञानी होंगे अपने घर के; विदेह होंगे ऋषियों के लिए, मुनियों के लिए। तुम्हारे लिए वे अनुचित वक्ता थे। क्षत्रियत्व का अप-मान तुम्हारा अपमान था—रघुकुल का तिरस्कार था। यह बात सब से पहले तुम्हींको सूझी। राम के इशारे से तुम लोहू का घूँट पी गये, पर तुम्हारे सिंह-गर्जन से आकाश गूँज गया, जनक सिटपिटा गये। "कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊँ" में तुम्हारा खिलाड़ीपन खुल-खुलकर खेल रहा है। तुम्हारी कर्मण्यता "काचे घट जिमि डारों फोरी" में फूट पड़ी है।

क्षत्र कुल के काल जामदग्न्य परशुराम के ब्रह्मतेज और महा-क्रोध के सामने बड़े बड़े योधा तितर बितर जो जाते हैं, और तुम्हें विनोद सूझता है। तुम्हारा 'दूध मुख' वहाँ वज्र मुख बन जाता है। कोई डरे, कोई दबे, कुछ हो तुम्हें भय नहीं। तुम्हारे लिए तो जो लड़ने आये, फिर वह शङ्कर ही क्यों न हों, तुम उसे छकाने को तैयार हो। तुम वहाँ उसका पद नहीं देखते, मद नहीं देखते। वह तुम्हारा प्रतिद्वन्द्वी है और तुम्हें उससे दो-दो हाथ करने में रस आता है। चाहे राम 'नयन तरेरें' वा 'लोक अनुचित पुकारें' तुम देह में से निकले ही पड़ते हो।

तुम नटखट भी कम नहीं। दास दासियों तक पर हाथ छोड़ देते हो। तभी तो मन्थरा की भुनभुनाहट पर कैकेयी को सन्देह होता है कि "दीन्ह लषन सिख असि मन मोरे।" खरे इतने हो कि चूकते अपने पिता तक से नहीं। सुमंत्र से दशरथ के विषय में, न माने, कुछ अट सट कह ही दिया। इतने पर भी अङ्कुश मानते हो। तुम्हारे जीवन सर्वस्व राम हैं। राम की आँखों का एक डोरा तुम्हारे रोष रूपी ज्वालामुखी के उभार को झाग-सा बिठा देता है।

तुम राम को जानते हो और राम तुम्हें। वनवास हुआ। सीता व्याकुल हो उठीं। बड़े उत्तर प्रत्युत्तर के पश्चात् उन्होंने राम पर विजय पाई। तुम भी वहाँ गये और "देह गेह सब सन" तृण तोड़कर "चितवत ठाढ़े," में अपना जादू राम पर डाल

दिया। उन्होंने कुछ कहा भी तो "मैं शिशु प्रभु सनेह प्रतिपाला" में बाजी मार ले गये। तुम्हारे उस मौन में तुलसी ने एक और गीता छिपा दी।

तुम्हारी सेवा जीवन पथ का एक प्रदीप है। राम सीता सो रहे हैं और तुम धनुष बाण लिये वीरासन पर बैठे उनकी शरीर-रक्षा कर रहे हो। एक दिन नहीं, दो दिन नहीं; एक वर्ष नहीं, दो वर्ष नहीं; पूरे चौदह वर्ष। यह अनन्य भक्ति जगतीतल पर अलभ्य है। चित्र-कूट में राम के ललाट पर चिन्ता की रेखा झलकी नहीं कि तुमने भरत जैसे धर्म-धुरन्धर को भी उलटी सीधी सुना डालीं। तुम्हारे लिए "प्रकट करउँ रिस पाछिल आजू" का अवसर आ गया। तुम्हारे हृदय में उबाल आया, परन्तु राम के "सुनहुँ लषन भल भरत सरीषा। विधि प्रपञ्च महँ सुना न दीषा।" कहते ही बैठ गया। किष्किन्धा में राम के "सुग्रीवहु सुधि मोरि विसारी" कहते ही तुम उसके सिर पर जा धमके। राम की मैत्री का भी खयाल न करते हुए, उसे खूब फटकारा। पञ्चवटी में तनिक सङ्केत मिला कि शूर्पणखा के नाक कान न थे।

मेघनाद-वध में तुम्हारे अखण्ड व्रत और बल का पता चला। जिसपर इन्द्र का वज्र भी कुण्ठित हो गया था, उसके वध में तुम्हीं समर्थ हुए। तुम्हारे शक्ति लगने पर राम का करुण-रोदन तुम्हारी सेवा और उनके स्नेह-सर्वस्व का सजीव चित्र है। तुम्हारे

लिए "जैहों अवध कवन मुँह लाई" और "जो जनतेउँ वन बन्धु बिछोहू। पिता वचन नहिं मनतेउँ ओहू।" में तो वे सीता ही नहीं, पूज्यचरण दशरथ को भी एक ओर उठाकर रख देते हैं। तुम्हारे जीवन का फल वहाँ मिल जाता है।

भ्रातृ-भक्ति में तुम्हारी अनन्यता ही नहीं, अन्धता भी थी। सगर्भा सीता को जनशून्य वन में छोड़ते भी तुम्हें आगा पीछा न हुआ। तुम ग्लानि से गल गये; सङ्कोच से दब गये, पर काम कर गये। तुमने भाई का मान निभाया और अन्त तक निभाया। एक बार सीता के मर्म-वचनों से विद्ध होकर तुम रामाज्ञा का उलङ्घन कर गये थे—सीता को अकेली छोड़ चले गये थे। क्या उसी कारण इस अन्याय पर भी तुम न बोले। राम ने जब सुग्रीव आदि की बात मानकर समुद्र से प्राथना करना आरम्भ किया था, तब तुमसे न रहा गया था। "कायर मन कर एक अधारा। दैव-दैव आलसी पुकारा।" तुमने कह ही डाला था। यदि सीता परित्याग पर भी लोकमत के विरुद्ध तुम्हारा स्वर ऊँचा उठा होता, तो हमें तुमसे कुछ कहना न था। कौन जाने तुम्हारे द्वारा उस दुखिया का कल्याण हो जाता। तुम्हारा वहाँ का मौन हमें अखरता है। तुमने स्त्रियों की कोमलता का ज्ञान ही भुला दिया था क्या? उर्मिला की तो कभी सुध करते भी हम तुम्हें नहीं पाते। कुछ भी हो, सुमित्रा नन्दन! तुम पुण्यवान् हो, एक तान हो। तुम्हारे चरित्र में एक

वीरोचित आन और भ्रातृ सेवा के लिए मनुजोचित त्याग है, जिसका लावण्य हमें तुम्हारी ओर खींच ले जाता है।

१४—एक छड़ी की आत्म-कहानी

[काल्पनिक]

पूर्व-विचार :—

(१) मानसरोवर का तट।

(२) ब्रह्मपुत्र ; भागीरथी स्नान।

(३) सागर का गर्भ।

(४) कोलम्बो से रामेश्वर, बम्बई, कराँची।

(५) सेठ के साथ रेगिस्तान में।

(६) कवि के साथ नैनीताल; जन्मभूमि की दर्शनाभिलाषा।

मैं अपने पिता 'ओक' की अङ्क में क्रीड़ा करती और मानसरोवर के रमणीय तटपर विहार करती हुई हंसों की सुन्दर जोड़ियों को देख देखकर प्रफुल्लित होती थी। ब्रह्मपुत्र का निर्मल नीर मेरे पिता के चरण धोता और कलनाद करता हुआ न जाने कहाँ चला जाता था कि फिर लौटता ही न था। मैं कभी कभी सोचा करती कि यों ही जीवन के दिन जाकर फिर नहीं लौटते। स्वर्ण कमलों की रज से सुरभित पवन के झोंके मेरे कर-पल्लव हिला हिलाकर मुझे खेलाते थे। निर्मल नीलाम्बर के

नीचे बिछी हुई मानस-सर की श्वेत तथा शुभ्र जलराशि शुचिता की साक्षात् मूर्ति थी। अनेक मणि-शिलाएँ पड़ी हुई थीं, जिन पर कहीं कहीं मुनियों का मञ्जुल दर्शन मोद का कारण था। हिमाचल की मुक्ता-धवल चोटियाँ और कैलाश के दिव्य दर्शन मेरे सौभाग्य के सूचक थे। दिन रात निराली ही छवि रहती थी। प्रकृति का पुण्य भवन ही मानों वहाँ था। उस शुभ्र तथा शान्त तपोभूमि में जन्म लेकर मैं अपने जीवन को धन्य मान रही थी कि एक दिन मेरे पिताजी पानी में गिर पड़े और मैं भी काँपती हुई उनकी गोद में लिपट गई।

जल की प्रीति ही कितनी ? जो नित्य ही पिताजी का पाद प्रक्षालन करता था, वही उनकी समाधि स्थली बन गया। तल में पड़े हुए शिलाखण्डों की चोट खाते खाते मैं तो मूर्छित हो गई; पिताजी का क्या हुआ सो मुझे पता नहीं। मुझे जब चेत हुआ तो मैंने देखा कि मैं उनकी गोद से बिछुड़कर आसाम प्रान्त के ब्रह्मपुत्र के मोड़ पर एक खोखल में अटकी पड़ी हूँ। "पापी जल! तू ने क्या किया, किस जन्म का बदला लिया ?" कह ही रही थी कि एक लहर के चपेट में आकर फिर बह निकली। पाण्डवों के राजसूय यज्ञ की भूमि पाण्डुनगर के दर्शन करती हुई, ब्रह्मपुत्र से सिञ्चित प्रान्त का अवलोकन करती और डुबकियां लगाती चली जा रही थी कि पुण्य सलिला भागीरथी में स्नान करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। जिस अमृत के लिए सुर

समुदाय तरसता है, उसे अनायास ही पाकर मैंने अपने दुर्दिनों को भी धन्यवाद दिया। इस सुख से कुछ संतोष मिला ही था कि डेल्टा की पङ्किल भूमि में मेरे पाँव फँस गये। गंगा और ब्रह्मपुत्र की धारा भी हटकर बहने लगी और मैं वहाँ त्रिशङ्कु बनी अटकी रही। एक एक दिन करके दो वर्ष बीत गये; सोच लिया कि सड़ सड़कर यों ही प्राण जायँगे। फिर भी कभी कभी उद्धार की कल्पना किया करती थी। आशा बड़ी बलवती है, यदि यह न हो तो भय से ही मनुष्य के प्राण निकल जाया करें।

कालान्तर में घनघोर वर्षा हुई और नदियों में बाढ़ आई। मेरा भी ढूह ढह गया और मैं उछलती कूदती सागर की गोद में जा पड़ी। यहां मेरे ऊपर घोर सङ्कट आया। इधर तो नदी का प्रवाह आगे को ढकेलता था, उधर सागर की लहरें पीछे पटक देती थीं। उनके अन्योन्य-मुखालिङ्गन में मेरा बुरी तरह चर्वण हुआ। मेरी सारी खाल छिल गई। ज्यों त्यों करके समुद्र के क्रोड़ में शान्ति मिली। इतना विशाल जल-विस्तार मैंने पहले कभी न देखा था। उसे देखकर मेरी दृष्टि चौंधिया गई। परन्तु, तल पर तैरती हुई नौकाओं तथा जल-पोतों को देखकर कुछ धैर्य हुआ। समुद्र के तट का अवलोकन करती, और लहरों से टकराती हुई मैं अपने जीवन के दिन पूरे कर रही थी कि एक जलयान की कील में अटक गई। समुद्र के

वक्षस्थल को चीरता हुआ वह यान मुझे कोलम्बो ले पहुँचा। वहाँ उसने अपना लङ्गर डाला ।

उस बन्धन से मैं इतना दुखी थी कि मरने की दुआ मना रही थी। इतने ही में एक कारीगर की दृष्टि मुझ पर पड़ी, और वह मुझे अपने घर ले गया। तपोवन से छूटकर लङ्का में मुझे शरण मिली, यह सोच-सोचकर मैं बड़ी खिन्न थी कि इस कारीगर ने मेरा अङ्ग-भङ्ग करके मुझे तपाया। चाक़ू की नोंक से मेरी त्वचा को छीला, और मेरा मुँह मोड़कर मेरे ऊपर रंग-रोग़न चढ़ा दिया। कर्मों का फल-भोग समझकर मैंने यह सब कुछ सहा। फिर उसने मुझे एक सेठ के अर्पण कर दिया। उसके साथ साथ मैं रेलगाड़ी पर सवार हुई। इस परिवर्तन को देखकर मैं चकित थी, और भाग्य-लीला पर आश्चर्य कर रही थी। सेठ के साथ मुझे श्री रामेश्वर-धाम में शिवजी के दर्शनों का सु-अवसर मिला। भारत-माता के मुकुट से गिरकर फिर उसके चरण छू मैंने समझा कि अभी कुछ पुण्य शेष है। मलयानिल की पूत गन्ध का आनन्द लेती, दक्षिणी भारत का भ्रमण करती मैं सेठ के साथ बम्बई पहुँची। इस नगर में मैंने मनुष्य की बुद्धि का चमत्कार देखा। शान्ति और अशान्ति की तुलना करने बैठी ही थी कि स्टीमर में बिठाकर कराँची पहुँचाई गई। सेठ अपनी कोठी का निरीक्षण कर वहाँ से अपनी जन्म-भूमि जैसलमेर को चला। मार्ग में मरुस्थल की धूल फाँकती,

और ऊँट की पीठ पर चढ़ी जा रही थी। उस समय मेरे मनस्ताप की सीमा न थी। 'विधि-गति अति बलवान' के सिवाय मेरे मुख से कुछ न निकलता था।

इस रेगिस्तान में मेरे निर्वासन के तीन महीने राम राम करके कटे। सेठ फिर दिल्ली को चला, और अपने व्यवसाय की धुन में मुझे दिल्ली स्टेशन पर ही भूल गया। डिब्बे में कोई न देख पाया, तो एक कुली ने मुझे उठा लिया। वहाँ एक कवि की करुण-दृष्टि मुझ पर पड़ी, और उसने आठ आने पैसे देकर कुली से मुझे मोल ले लिया। मेरे जीवन के दिन कुछ फिरे। वह मुझे अपने साथ लेकर नैनीताल रहता है। मैं प्रातःकाल पर्वतीय प्रान्त में भ्रमण करती और सन्ध्या को तल्ली-ताल की सैर कर आती हूँ। वह एकान्त भ्रमण करता हुआ जब मुझे घुमाता चलता है, तो मेरे सिरे की नोंक पर उसकी दृष्टि एकाग्र हो जाती, और उससे उसकी कल्पना उड़ान भरने लगती है। उस समय उसके हृदय से जो भाव प्रसूत होते हैं, वे विश्व को नया सन्देश देते हैं। यह सुन सुनकर मैं भी फूली नहीं समाती हूँ। वह भी मुझे प्राणों से प्यारी रखता है।

अपने मित्रों के साथ वह कैलाश-यात्रा का विचार कर रहा है। यदि ऐसा हुआ, तो मैं फिर कैलाश-दर्शन कर सकूँगी, और उसे मान-सरोवर ले जाने के लिए अपनी सारी मौन-शक्ति लगा दूँगी; और यदि उसमें सफल हो गई, तो जन्म-भूमि के दर्शन

पा जाऊँगी। अवसर पाकर कवि के चरण पकड़ लूँगी और अपनी करुण-व्यथा से उसके हृदय को द्रवित कर मान-सरोवर में ऐसी डुबकी लगाऊँगी कि फिर न निकलूँगी। सम्भव है मेरी स्मृति में उस कवि के कुछ उद्‌गार भी निकल पड़ें, और मेरा न होना होने से भी बढ़ जाय।

१५—पशुओं के साथ कठोरता

विचार-तालिका :—

(१) पशुओं के आनन्दमय दृश्य।
(२) पशुओं का सुख-दुख का ज्ञान।
(३) गाँवों की दशा।
(४) दुधारू पशु।
(५) अमेरिका और भारत की तुलना।
(६) सवारी के पशु।
(७) रक्त निकालने की क्रिया।

कुदकते हुए घोड़ों की गाड़ी में बैठकर चित्त कैसा प्रफुल्लित होता है। फूलों और हरियाली से जगमगाते हुए जंगल में जाते हुए रथ के बैलों के घुँघरुओं की घोर कैसी श्रुति-सुखद होती है। हृष्ट पुष्ट गायों की दुहती हुई धार की घर्र मर्र ध्वनि मुँह में लार ले आती है। धरती को छोड़कर चलते हुए शिकारी कुत्तों की उड़ान देखकर विनोद की सीमा नहीं रहती। सुनहरी और रुपहरी

झूलों के ऊपर रखे हुए रंग विरंगे हौदे सहित हाथी का झूमना देख हमारा भी सिर झूमने लगता है। ऐसे अवसरों पर हम पशुओं के साथ की गयी कठोरताओं को भूल जाते हैं। परन्तु, यह सिक्के का चमकता हुआ चेहराहै, उसकी दूसरी ओर कुछ और है।

मूक पशु अपनी वात कह नहीं सकता। परन्तु प्रत्येक प्राणी सुख दुख का वैसा ही अनुभव करता है जैसा कि मनुष्य। पशु अपने शरीर को सुख पहुँचाना चाहते हैं और ज्ञान शून्य होने के कारण शारीरिक सुख ही उनका तो सर्वस्व है। मनुष्यता के विचार से न सही, तो उनकी उपयोगिता तथा सेवाओं के विचार से ही उनके प्रति सदय व्यवहार हमारा कर्तव्य है। इस कर्तव्य का पालन हम कहाँ तक करते हैं, इस पर तनिक दृष्टिपात कीजिए।

गाँवों में जाइए ; बैलों की दशा देखिए। दिन भर हल जोतना पानी खींचना, गाड़ी चलाना उनका काम है। परन्तु, उनके खाने पीने की हमें कितनी चिन्ता है ? ठीक समय पर चारा देना वा पानी पिलाना तो विरले ही किसान जानते हैं। पानी के लिए तो उन्हें पोखरों में ही छोड़ दिया जाता है और कभी कभी तो बेचारों को कीचड़ में से चूस चूसकर पानी पीना पड़ता है। काम लेते समय किसान के हाथ में एक काँटेदार छड़ी रहती है, जिसे वह उनके पिछले भाग में चुभोता रहता है। कितने ही बैलों के

पुट्ठों पर इस प्रकार के छेदों का छत्ता सा बन जाता है। तिस पर उनकी खुराक के लिए साफ़ और वारीक भूसा भी नहीं, दाने के तो दर्शन ही कहाँ? कभी कभी तो पेड़ों की पत्तियों से उनके दिन कटते हैं। ज़रा वलहीन हुए कि उन्हें बेचकर कटने भेज दिया।

दुधारू पशुओं के साथ दूध देते समय के और ठाल्‌ समय के व्यवहार में आकाश पाताल का अन्तर है। स्वार्थ का इससे अच्छा उदाहरण कहीं ही मिले तो मिले। जहाँ चारागाह हैं, वहाँ तो बेचारे धरती माता की गोद में कुछ सहारा पा लेते हैं। परन्तु ज़मींदारों के बढ़ते हुए पेट में चारागाहों का घास फूँस भी समाया जा रहा है। वे तो भूमि के टुकड़े टुकड़े को जुताऊ बनाने पर तुले हैं। यदि उनका बस चले तो वे रोटियाँ भी सोना, चाँदी, पीतल, ताँबे को बनाकर खायं। परन्तु, भगवान्‌ की लीला अनन्त है। कृत्रिमता के इन भक्तों का अधिकार परिमित है। जहाँ चारागाहों की कमी है, वहाँ के पशुओं पर घोर संकट रहता है। बुरे से बुरा चारा, सो भी भरपेट नहीं मिलता। जिनका दूध पी पीकर हम पुष्ट हुए, काम निकलने पर उन्हींकी इतनी उपेक्षा! कृतघ्नता की हद है। उस समय हम इतना भी तो नहीं सोचते कि स्वस्थ और पुष्ट पशुओं का दूध ही हमारे लिए विशेष हितकर है। आर्थिक दृष्टि से भी निर्वल पशु कैसे अधिक दूध दे सकता है?

सुना है कि अमेरिका में गायों का दूध दुहते समय पियानो (एक मधुर बाजा) बजाया जाता है। गायें उसकी तान में

मस्त होकर सारा दूध प्रसन्नतापूर्वक छोड़ देती हैं। जरा हमारे यहाँ की कथा सुनने के पूर्व हृदय को थाम लीजिए। कलकत्ते में गायों के छोटे छोटे बछड़ों को इसलिए मार डाला जाता है कि उनके बाँधने को स्थान कहाँ से आवे, और दूध का कुछ भाग भी उनके पेट में चला जायगा। उनकी खाल में भूसा भरकर गायों को धोखा दिया जाता है कि मानों उनका बच्चा जीवित है। यह तो पशुओं के अज्ञान से लाभ उठाने की बात हुई। अब और लीजिए। गायें प्रायः दूधको चढ़ा लेती हैं। इसलिए उनकी योनियों में उनकी पूँछ का झब्बा धँसा दिया जाता है और कोई नृशंस तो अपना हाथ तक उसमें डाल देते हैं। इस क्रिया को वहाँ 'फूका' कहते हैं। इस क्रिया से दूध चढ़ाने में वे असमर्थ हो जाती हैं। यह है हमारी गोभक्ति का एक नमूना। दूसरा लीजिए। कुछ दिनों तक केवल आमों की पत्तियाँ गाय को खिलाने से उसके पेशाब में एक प्रकार का हरा रंग पैदा हो जाता है, जो बड़े मोल का होता है। इस लालच से अनेक गायों को केवल आम की पत्ती खाने को दी जाती है। इसका फल यह होता है कि गाय थोड़े दिन पीछे मर जाती है। रिस रिस कर प्राण निकलना इसे कहते हैं। कहिए, अब भगवान् कृष्ण के भक्त हम हैं, या अमेरिका के वे निवासी जो बाँसुरी की भाँति पियानो की तान सुनाकर गायों को सुख देते हैं? तभी तो वे नित्य नया नवनीत खाते और दूध की नदियाँ बहाते हैं

और हमारे लिए बन गये हैं वनस्पति घी, कोकोजिम, और सूअर तथा साँपों तक की चर्बियाँ। क्या आपको पता है कि इङ्गलैण्ड में एक गाय का मूल्य २५०००) तक है ?

सवारी और बोझे के पशुओं की दशा पर भी रोना आता है। किराये के घोड़ों में कितने ही ऐसे होते हैं, जो महादुःख भोगते हैं। उन्हें खराक तो कम दी जाती है और काम लिया जाता है अधिक। यदि तेज न चलें तो बड़ी निर्दयता के साथ उन्हें पीटा जाता है। इक्केवालों की घोड़ों की रास में प्रायः चमड़े के तस्मे बँधे रहते हैं। जब वे उन्हें घुमाकर मारते हैं तो घोड़ों के मर्म-स्थान पर चोट लगती है। कैसा हृदय-विदारक दृश्य है ! इक्के-वाला तो जीविका के फेर में अन्धा बन ही जाता है, सवारियाँ भी अपना उत्तर-दायित्व नहीं समझतीं। पहले तो मरियल घोड़ों-वाले इक्कों में बैठना ही अधर्म, फिर पैसों के लोभ से बैठ भी गये तो जल्द हाँकने की पुकार मचती है। इस प्रकार बैठनेवाले भी पाप कमाते हैं। इस अत्याचार से वे अधिकारी भी नहीं बच सकते, जो ऐसे इक्कों को किसी कारण से पास दे देते हैं। बोझे से लदे हुए बैलों गधों आदि को देखिए। प्रायः उनके पैर एक दूसरे से लगते हैं और उनमें लोहू से भरे घाव हो जाते हैं, परन्तु उनका पीछा नहीं छोड़ा जाता। सामर्थ्य से अधिक लदाई के साथ-साथ डंडे का प्रहार मानों उनकी सेवा का उपहार होता है।

सच तो यह है कि इस दिशा में हमारा नैतिक पतन इतना हो गया है कि हम मनुष्य कहलाने योग्य नहीं रहे।

माँस के लिए भी पशुओं का बलिदान किया जाता है। इस तुच्छ जीवन के लिए यह कठोर कर्म कहाँ तक उचित है इसे तो विचारशील ही जानें, परन्तु मारने की विधियों पर विचार करना आवश्यक है। हमने अपनी आवश्यकताओं के पीछे जीव का तो कुछ मूल्य ही नहीं रहने दिया। इतने पर भी हमारी सभ्यता की डींग बड़ी भारी है। अलमोड़ा के पास एक पहाड़ी है। यदि मैं भूल नहीं करता तो उसका नाम मोती पहाड़ी (Pearl-Hill) है। बड़ा सुन्दर नाम है और काम ? "विष-रस भरा कनक घट जैसे" वहाँ जीवित पशुओं का रक्त निकाला जाता है। किसलिए सो पता नहीं। सरकार की ओर से वहाँ एक कार्यालय है, जहाँ पशुओंको खूब मोटा ताजा किया जाता है। फिर एक मशीन द्वारा उनका रक्त निकालते हैं। सुना है रक्त निकलते समय पशुका काँपना रौरव नरक की यंत्रणा की सुध दिलाता है। रक्त निकालने पर फिर उसे खूब खिलाया-पिलाया जाता है, और मोटा होने पर फिर वही पाशविक क्रिया की जाती है। दो तीन बार में बेचारा पशु प्राण दे बैठता है। कहा जाता है कि रक्त निकालने का यह सुधरा हुआ ढंग है। अधिक से अधिक रक्त चूसने की इस क्रिया को हम क्या कहें ? इसमें सन्देह नहीं कि यह मनुष्यता का नंगा नाच है।

१९—कर्तव्य

पूर्व विचार:—

(१) कर्तव्य की महिमा और क्षेत्र।

(२) कहना और करना ; कर्तव्य की मूर्तियाँ।

(३) कर्तव्य की कठोरता ; राम, प्रताप, हरिश्चन्द्र।

(४) कर्तव्य की मिठास।

(५) कर्तव्य-वीर।

कर्तव्य की महिमा अपार है। इसके मर्म को जान लेना जीवन के तत्व को पहुँच जाना है। मनुष्य मात्र का जन्म कुछ करने के लिए हुआ है और कुछ कर जाना ही कर्तव्य का पालन है। इस प्रकार करनी के अवसर जीवन में प्रायः आते जाते ही रहते हैं। जिस अवसर पर जो करणीय है, वही हमारा कर्तव्य है, धर्म है। करणीय कर्मों की संख्या निश्चित नहीं की जा सकती। अनेक सत्कार्य हैं, जिनमें कर्तव्य-पालन के अवसर आते हैं। अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उन सत्कार्यों का पूरा करना ही हमारा कर्तव्य है। उदाहरण के लिए, भूखे को अन्न देना कर्तव्य है; गिरते को उठाना कर्तव्य है; दीन-दुखियों की सहायता कर्तव्य है; साधुओं की रक्षा और पापी को दण्ड देना कर्तव्य है; न्याय पर दृढ़ रहना और दया दिखाना कर्तव्य है; सत्य, स्वत्व, धर्म, न्याय वा प्रण पर वलि हो जाना कर्तव्य है। इसी प्रकार और भी

समझिए। इन कर्तव्यों में कुछ कर्तव्य सामान्य हैं, जो मनुष्य जन्म लेने ही के कारण हमारे धर्म हैं और कुछ ऐसे हैं, जिनका भार हमने स्वयं अपने ऊपर ले लिया है। दूसरे प्रकार के कर्तव्य हमारे विशेष कर्तव्य कहलाते हैं। जैसे, विद्याध्ययन प्रत्येक व्यक्ति को उचित है, परन्तु वही विद्यार्थी का परम कर्तव्य है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की धारणा के अनुसार कोई कार्य-विशेष उसका प्रधान कर्तव्य बन जाता है।

कहना जितना सरल, करना उतना ही कठिन है। इसलिए कर्तव्य वीरों को कठिनाइयों को पार करने के लिए सदैव कटिबद्ध रहना पड़ता है। उनका जीवन उनके कर्तव्य में खो जाता है। उनका सुख, उनका आनन्द, सब कुछ कर्तव्य के अर्पण हो जाते हैं और कर्तव्य करके उन्हें एक अलौकिक आनन्द का अनुभव होता है,जो इहलोक के आनन्दों से कहीं बढ़कर है। अपने चारों ओर ही आँख खोलकर देखिए, कर्तव्य की मूर्तियाँ मुस्कुराती हुई खड़ी हैं। सूर्य, चन्द्रमा, तारे, नक्षत्र, पृथ्वी, पवन, जल, अनल सब अपने-अपने काम में ऐसे लीन हैं, मानों इन्हें अपने तन की सुध ही नहीं। क्या मजाल, इनके कर्तव्य में तनिक भी ढील हो जाय वा थोड़ी-सी देर भी वे थककर बैठ जायँ। जहाँ डट गये, डटे हैं। कर्तव्य के सामने फूल खिलता, अपनी गन्ध छोड़ता और मुरझा जाता है। चाहे वह उपवन में हो, चाहे निर्जन वन में; चाहे उसे कोई देखे, चाहे न देखे, वह अपने कर्तव्य में मग्न है।

कर्तव्य की कठोरता भी बड़ी विलक्षण है। साधारण दृष्टि में तो उसका प्रदर्शन अनौचित्य की सीमा को पहुँच जाता है। परन्तु, जो कर्तव्य पर आरूढ़ है, वही जानता है कि उसे किन भावनाओं से प्रेरित होकर वैसा करना पड़ता है। अग्नि का धर्म है जलाना। इस कर्म में त्रुटि न करना ही उसका कर्तव्य है। फिर यदि गोद का बालक भी भूल से उसके पास पहुँचता और उसे लेने को हाथ बढ़ाता है, तो अग्नि उसे तुरन्त जला देता है। इससे अधिक निर्दयता और क्या होगी ? परन्तु, प्रकृति के नियमों में इतनी अटलता न हो, तो उसका व्यापार ही बन्द हो जाय। तनिक ढील के पीछे न जाने क्या से क्या हो जाय ? कर्तव्य जो न करा दे सो थोड़ा है। राम के सामने निरपराधा, सती-शिरोमणि, सगर्भा सीता खड़ी हैं और वे हृदय पर वज्र रखकर लक्ष्मण को उनके परित्याग की आज्ञा दे देते, तथा लक्ष्मण उसे पालन करते हैं। महाराना प्रताप के राजकुमार और राजकुमारी वन में वृक्षों की छाल के आटे की रोटियाँ खा रहे हैं, उन्हें भी बिल्ली छीन ले जाती है और वे पत्थर बन बैठे देखते हैं। राजा हरिश्चन्द्र का प्राणाधार पुत्र मर जाता है, रानी शैव्या उसे मरघट में लाती है; उसके पास केवल एक ही कफ़न है; उसका विलाप सुनकर पत्थर पसीजते और वृक्ष रो देते हैं, परन्तु कम्बल और लकुट लिये राजा आते और बिना कर चुकाये उसकी मृतक-क्रिया भी नहीं होने देते हैं। अभी अभी कुछ ही महीनों की बात है,

अटलांटिक महासागर के बरमूदा द्वीप-समूह में एक भारी तूफ़ान आया ; जहाज़ डूबने लगा। रक्षा के लिए नावें आगईं, परन्तु संख्या में कम थीं। जहाज़ का कप्तान और उसके सहायक ३५ कर्मचारी, तब तक नावों पर आकर प्राण बचाना नहीं चाहते, जब तक कि एक भी यात्री शेष है। फलतः सब के सब अपना काम करते हुए सागर के अनन्त गर्भ में सदा को सो जाते हैं। इस आत्म-बलिदान का कारण क्या है ? केवल कर्तव्य की प्रेरणा।

कर्तव्य में ऐसी क्या मिठास है, जो इन सब कठोर कर्मों को करा डालती है ? हाँ, उसमें कुछ ऐसी ही मिठास है, जिसके वर्णन में वाणी मौन है। कर्तव्य-पालन की एक लगन होती है और उस लगन में अपना पराया नहीं देखा जाता। उस मार्ग में संकीर्णता नहीं, उसका पथ सब के लिए खुला हुआ है। उसकी प्रेरणा परमात्मा के द्वारा अन्तर-ध्वनि से होती है; उसकी पूर्ति से शान्ति तथा संतोष लाभ होता है। चार आने का मज़दूर काम करके कैसी सुख की नींद सोता है। प्रजा को सुखी करके राजा के मनोरञ्जन की सीमा नहीं रहती। रोगी को चंगा करके वैद्य वा डाक्टर का हृदय छलाँगें भरने लगता है। पानी में डूबते हुए को बचाकर तैरनेवाला अपने को धन्य मानता है। शिष्य को विद्या वितरण कर आचार्य को अनन्त आह्लाद होता है। प्रतिद्वन्द्वी को पछाड़कर पहलवान् प्रफुल्लित

हो जाता है। इनका सुख यदि इन्हींसे पूछा जाय, तो वे भी कह न सकेंगे, अनुभव ही कर सकते हैं।

जो अपने कर्तव्य-पालन में जितना कुशल है, जितना सचेत है, उसकी महिमा उतनी ही महान् है। उसकी कीर्ति भुवनव्यापिनी और उसका चरित्र सुर-वन्द्य होता है। उसके चरण-चिह्नों को देख औरों को दिशा सूझती है। "महाजनो येन गतः स पन्थाः" अर्थात् जिस मार्ग से बड़े जन गये हैं वही मार्ग है, यह मर्यादा ऐसे ही पुरुष-पुङ्गवों द्वारा स्थापित होती है। वे ही जाति, समाज और राष्ट्र के अग्रगन्ता होते हैं। ऐसे ही कर्मवीर मानव-कुल के दीपक होते हैं। वे कर्तव्य-पालन ही से असम्भव को सम्भव कर दिखाते और जीवन में विजय पाते हैं।

१७—आलस्य

विचार-सूची :—

(१) "अजगर करें न चाकरी, पंछी करें न काम।"
(२) निद्रा का अर्थ, अर्जुन, नेपोलियन, लक्ष्मण, कुम्भकर्ण।
(३) आलस्य के सखा; सिंह का पुरुषार्थ।
(४) दैनिक जीवन; नगर और गाँव की दशा।
(५) अपनी सेवा; वुडरो विलसन; गाँधी।
(६) हमारी प्रतिज्ञा।

"अजगर करें न चाकरी, पंछी करें न काम।
दास मलूका कहि गये, सब के दाता राम॥"

ऐसी ही उक्तियाँ हैं, जो आलसियों के मुख से सुनी जाती हैं। अकर्मण्य जीवों को उन्हें सुनकर संतोष भी हो जाता है। परन्तु, उनमें तत्व कितना है इसकी ओर से वे आँखें मूँद लेते हैं। ऊपर के दोहे में यह ठीक है कि अजगर चाकरी नहीं करते, परन्तु पड़े-पड़े मिट्टी भी तो खाते रहते हैं, उन्हें हमारे-से दिव्य पदार्थ भी तो नसीब नहीं होते। इसीसे प्रकट है कि अजगर का जीवन धूल चाटने का जीवन है। पक्षियों का काम न करना हमारी समझ में नहीं आता। हाँ, मनुष्य महाशय ने यदि समस्त सृष्टि को अपनी ही बपौती समझ लिया हो, तो संभव है कि पक्षी कुछ नहीं करते और पराई सम्पत्ति पर हाथ फेंकते हैं। हमें तो पक्षियों का जीवन पुनीत जीवन दृष्टि आता है, हम उसमें पद-पद पर कर्मशीलता के लक्षण पाते हैं। उषःकाल में ही सदैव उठकर चहचहाना आलस्य को ढकेल देना नहीं तो क्या है? दाने-दाने को चुनकर खाते हुए फुदकते फिरना स्फूर्ति के झूले में झूलना नहीं तो क्या है? वही फल-मूलादि खाना, सो भी बावन तोले पाव रत्ती, क्या ऋषि-जीवन की सात्विकता की समता नहीं? अमेरिका का महान् आविष्कर्ता एडीसन दिन रात में केवल दो घंटे सोया करता था, सो भी चार वार में आधा-आधा घंटा करके। वह कहा करता था कि मैं इतना स्वल्प भोजन करता हूँ कि चिड़ियों की भाँति

रहता हूँ। उन्हीं चिड़ियों को अपने घेरे में घसीटना, हम तो कहेंगे, आलसियों की अलस-कल्पना का एक नमूना है।

निद्रा कर्मवीरों को विश्राम देती, और परिश्रम-जनित आलस्य को दूर हटाकर उन्हें चैतन्य वना देती है। वही आलसियों की शरण-स्थली वनकर उन्हें 'शनैश्चर' बनाती है। अर्जुन को गुडाकेश कहा जाता था। गुडाकेश उसे कहते हैं जिसने निद्रा को वशीभूत कर लिया हो। नेपोलियन सात सात दिन तक लगातार घोड़े की पीठ पर चढ़ा रहता था। जब भगवान् राम और देवी सीता शयन करते थे, तब धनुष बाण चढ़ाये और वीरासनपर वैठे हुए उद्ग्रीव लक्ष्मण जागते दृष्टि आते थे। तभी तो विजय-श्री उनके गले में जयमाल डालती थी। उधर कुम्भकर्ण, रावण आदि का वृत्त किससे छिपा है ? "कुम्भकर्णी निद्रा" एक कहावत वन गई है। जागृति देवत्व की और आलस्य दैत्यत्व की पहिचान है।

आलस्य के आते ही रोग, दारिद्र्य, विनाश, मलिनता, पराधीनता आदि उसके सखा भी एक-एक करके आ जाते हैं। आलसी की इच्छाशक्ति निर्वल होने लगती और उसे अपनी शक्ति में अविश्वास उत्पन्न हो जाता है। छोटे से छोटा काम भी उसे पहाड़ प्रतीत होता है। वह भाग्य-वादी बन जाता और पुरुषार्थ को दूर ही से प्रणाम करता है। वह नहीं सोचता कि "न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।" अर्थात् सिंह जैसे

पुरुषार्थी के मुँह में भी उसके सोते समय पशु अपने आप नहीं चले जाते। बड़े से बड़े पराक्रमी को भी परिश्रम से ही सब कुछ मिलता है।

अपने नित्य-जीवन में ही हम आलस्य के कारण कितने कष्ट उठाते हैं, सोचने की बात है। भगवान् के बिना मूल्य दिये हुए अमूल्य पदार्थ शुद्ध जल, वायु आदि का ही सेवन हममें से कितने करते हैं ? यदि प्राण-धारण करने के लिए वे आवश्यक न हों तो, हम तो उन्हें छोड़ ही दें। हमारे सामाजिक-जीवनके अनेक दुःखों का मूल भी यही आलस्य है। गाँवों के सादा जीवन में भी आलस्य का इतना प्रवेश हो गया है कि लोग पड़े-पड़े हुक्का गुड़-गुड़ाते रहेंगे, परन्तु घरों को भलीभाँति लीपेंगे पोतेंगे भी न। घूरों की सड़ाँयद सूँघते रहेंगे, परन्तु चार पांव आगे बढ़ाकर कूड़ा न डालेंगे। शहरों की गन्दगी का तो वर्णन न करना ही अच्छा। चुंगी का संगठन न हो, तो 'नगर' का अर्थ 'न रक' सोलहो आने ठीक उतरे। चुंगी के होते हुए भी बेचारे ग़रीबों की गलियों में जाइए, वहाँ नरक से कम यातना नहीं। आलस्य इतना कि अपनी बला दूसरों के सिर पर फेंक देना चतुराई समझी जाती है और कोसा जाता है सरकार को, भाग्य को, कलि-काल को।

औरों की सेवा तो दूर, हम अपने शरीर को भी कभी-कभी उतार फेंकना चाहते हैं। कहार नहीं आया, बैठे हैं। क्यों नहायँ,

शान बिगड़ जायगी। गन्दगी रहे, रहने दो; रोग आए, आने दो। हम बड़े आदमी हैं, काम करना अपना काम नहीं। कैसे तुच्छ विचार हैं ? अमेरिका का प्रेसीडेंट वुडरो विल्सन अपने कमरे में आप झाड़ू लगा सकता है; महात्मा गाँधी अपना कुरता आप धो सकते हैं; परन्तु, भारतीय बालक भी अपना काम आप करते लजाने लगे हैं। बड़प्पन का यह भाव रह गया है, और पराधीनता प्राण निकाले लेती है। "आत्मदासाः तपस्विनः" अर्थात् तपस्वी अपने सेवक आप होते हैं; आर्यों का यह आदर्श था। परन्तु, अब हम तपस्वी नहीं रह गये; भोगी और फलतः रोगी हो गये हैं। आलस्य ने यहाँ अड्डा जमा लिया है।

यदि इस पापी से पीछा छुड़ाना है, तो आज से हम प्रतिज्ञा करें कि कभी आलस्य न करेंगे। प्रातःकाल आँख खुलते ही शय्या को छोड़कर खड़े हो जायँ और बिस्तर लपेट कर रख दें। अपने नित्य-कर्म अपने हाथ से करें, उनमें पराधीन न हों। हाथ-पावों को हिलने दें और शरीर में फुरती आने दें। अपनी इच्छा को बलवती बनायें और संकल्प पर दृढ़ रहें। अपने शरीर, अपने मन पर स्वाधीनता प्राप्त करें। तभी हम सच्ची स्वाधीनता पाने के अधिकारी होंगे और हम न केवल अपना, वरन् औरों का भी कल्याण कर सकेंगे। परमेश्वर से नित्य हमारी पहली प्रार्थना यही हो कि भगवान्! हमें आलस्य से सदैव दूर रखिए।

१८–आदर्श का प्रभाव

विचार सूची :—

(१) मनुष्य उन्नतिशील प्राणी है।
(२) मानुषी बुद्धि की विशेषता।
(३) आदर्श का महत्व।
(४) आदर्श का क्षेत्र ; एकलव्य का दृष्टान्त।
(५) आदर्श आत्माएँ ; नेलसन, प्रताप, नेपोलियन, बुद्ध, ईसा आदि।
(६) आदर्श के पात्र।
(७) प्रकृति का परिवर्तन।

मनुष्य उन्नतिशील प्राणी है। यद्यपि चिड़ियों के बच्चों की भाँति वह पंख निकलते ही बिना सिखाये उड़ नहीं सकता तथापि अपनी बुद्धि के बल से उसने जिन वायुयानों का आविष्कार किया है। उनसे वह न केवल उड़ता है, किन्तु अनेक विस्मय-जनक कार्य करता है। उसके ज्ञान का विकास धीरे धीरे, परन्तु दूरगामी और चिरस्थायी होता है। मानवीय ज्ञान के छिपे हुए अङ्कुरों के ऊपर से ज्यों ज्यों अज्ञान का परदा हटता जाता है, त्यों त्यों उसकी शक्तियाँ प्रकाश में आती जाती हैं। इस विकाश में उस के आसपास की परिस्थितियाँ, संगीति शिक्षा, विचारों का आदान

प्रदान, अवसरों का सुयोग, और आदर्श का प्रभाव इत्यादि अनेक साधनों का हाथ रहता है।

यों तो, पशु पक्षियों को भी सिखाने से वे बहुत से काम करने लगते हैं। तोते राम रट लेते हैं; बन्दर, रीछ नाच-तमाशे दिखाते हैं, घोड़ों में नई नई चालें आ जाती हैं। परन्तु, ये सब मनोविनोद की सीमा तक ही रहते हैं। मनुष्य की बुद्धि पर शिक्षा का विचित्र ही प्रभाव पड़ता है। उसकी सोती हुई शक्ति में चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। जैसे सूर्यकान्त-मणिपर प्रकाश की किरणें पड़ते ही वह प्रज्वलित हो उठता है, वैसे ही मानव-बुद्धि में ज्ञान के आलोक के स्पर्श से एक अपूर्व स्फुरणा उत्पन्न हो जाती है। उसकी दशा वैसी ही होती है, जैसी कि जल की तरङ्गों पर तैल की बूँद की। वह प्राप्त की हुई शिक्षा को न केवल ग्रहण ही करती, वरन् उसे बढ़ा-बढ़ाकर विविध प्रकार से व्यक्त करने लगती है। इस क्रिया में वह कभी कभी गुड़-रूपी गुरू की चेली शक्कर बन जाती है। विचारशीलों की इस बुद्धि-विचक्षणता के कारण ही तत्वज्ञान की उन्नति होती रहती हैं।

विकास की यह गुप्त शक्ति ईश्वरीय प्रसाद है। इसके उभारने में आदर्श से बढ़कर अन्य कोई साधनकाम नहीं करता। गुरु जब शिक्षा देता है, तब शिष्य की बुद्धि की पहचान करता है और उसी के अनुरूप शिक्षा की योजना का कार्य गुरु के ही ऊपर निर्भर रहता है। सम्भव हैं इसमें गुरु से भूल हो जाय, और

उसका प्रभाव अभीष्ट के प्रतिकूल हो। परन्तु आदर्श में इच्छा-रूप गुणों का चुनाव सर्वथा सीखनेवाले के अधीन है। जिस ओर उसकी दैवी शक्तियों का झुकाव हो, उधर ही उसे मार्ग मिल जाता है। सीखने का यही ढङ्ग स्वाभाविक है, इसलिए यह सैकड़ों उपदेशों से बढ़कर है। इसके अतिरिक्त कोरे उपदेशों के रूप की कल्पना ही करनी पड़ती है, और आदर्श के साथ शिक्षा मानों सजीव होकर सामने खड़ी हो जाती है। आदर्श साकार प्रतिमा के सामान है और कोरा उपदेश निराकार ईश्वर के तुल्य। इसलिए पहला सुबोध है और दूसरा दुरधिगम्य।

आदर्श का क्षेत्र सर्वत्र है। कुटियों से लेकर प्रासादों तक, अपढ़ों से लेकर धीमानों तक इसकी महिमा समान है। आचार्य द्रोण के धनुर्विज्ञान कौशल की चर्चा जब वन-प्रदेश में पहुँची, तो भोले-भाले एकलव्य नामक भील के हृदय में महत्वाकांक्षा का अङ्कुर उभर आया। उसने आचार्य के चरणों पर शीश जा झुकाया और धनुर्विद्या-शिक्षण की जिज्ञासा प्रकट की। यद्यपि वंशाभिमान ने उस दीन की उत्कण्ठा को ठुकरा दिया, तथापि आदर्श ने उसकी बाँह पकड़ी। वह गुरु द्रोण की प्रतिमा बनाकर श्रद्धा सहित तीर छोड़ने का अभ्यास करने लगा। फल यह हुआ कि उसने कालान्तर में आचार्य के प्रिय शिष्य तथा अद्वितीय धनुर्धर अर्जुन की समता कर दिखाई। यह देख द्रोण स्तम्भित रह गये। गुरु का नाम पूछने पर भेद खुला तो उनके

आश्चर्य की सीमा न रही। आदर्श के प्रभाव का यह एक ज्वलन्त उदाहरण है कि केवल दृढ़ इच्छा का बल पाकर आदर्श क्या कर दिखलाता है।

जिसके सामने उच्च आदर्श है, वही ऊँचा चढ़ सकता है। यही नहीं, वह अपनी पतितावस्था में भी आदर्श की ओर देखता हुआ अपने को सँभाले रह सकता है। आदर्श पुरुष किसी विशेष देश वा जाति के नहीं होते; वे सबके हैं। उनके गुण समस्त संसार की सम्पत्ति हो जाते हैं; वे जगत् के जातीय धन हैं। क्या वीरवर नेलसन का पराक्रम केवल इँगलैंड तक ही परिमित है? क्या महाराना प्रताप की धीरता और वीरता केवल हिन्दुओं की ही सम्पत्ति है? क्या नेपोलियन का अदम्य उत्साह फ्रांस का ही अधिकार है? क्या महात्मा बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि के सिद्धान्त एकदेशीय हैं? कदापि नहीं, इन आदर्शों से समस्त मानव-जाति का उपकार हो रहा है। इनकी ओर प्रत्येक होनहार व्यक्ति की आँखें उठती हैं। इनकी आत्माएँ भूतकाल के गर्भ में सो नहीं गईं, वे भविष्य के लिए भी वैसा ही सन्देश दे रही हैं, जैसा कि उन्होंने अपने जीवनकाल में दिया था। ऐसी ही आत्माओं के पवित्र सौरभ से वायुमण्डल परिपूरित हो रहा है, जिसमें साँस ले-लेकर अन्य आत्माएँ भी पवित्र होती हैं।

आदर्श के इस प्रभाव को देखकर कौन नहीं चाहेगा कि वह भी आदर्श-जीवन बनाने की चेष्टा करे। अपनी-अपनी मनोवृत्ति

के अनुकूल आदर्श का चुनाव प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। हाँ, अपनी शक्ति की ओर भी ध्यान रखना चाहिए। जिस प्रकार विजली वादलों के ही गर्भ में छिप सकती है, उसी प्रकार आदर्श की विद्युच्छक्ति को भी मेघ-गम्भीर पुरुष ही धारण कर सकते हैं। केवल आदर्श के दर्शनों पर मुग्ध होने से काम नहीं चलता। उसकी प्राप्ति के साधन-स्वरूप दृढ़ संकल्प, कर्मशीलता, अध्यवसाय आदि गुण भी होने चाहिए। जैसा पात्र होगा, वैसा ही प्रभाव उस पर आदर्श का पड़ेगा।

क्या वुरी प्रवृत्तिवालों को वुरा ही आदर्श ढूँढ़ना चाहिए, यह भी एक प्रश्न हो सकता है। जीवन में कभी-कभी ऐसे अवसर आया करते हैं कि प्रवृत्तियों में घोर परिवर्त्तन हो जाता है। महर्षि वाल्मीकि का उदाहरण सबके सामने है। किस प्रकार एक घटना ने उनको व्याध से ऋषि बना दिया! यदि वुरी वृत्ति-वाला भी अच्छे आदर्श को ग्रहण करेगा, तो उसकी प्रवृत्ति में परिवर्तन आरम्भ हो जायगा; विचारों की शुद्धता उसमें आने लगेगी और वह अपने आदर्श का उपयुक्त पात्र वन जायगा। प्रवृत्ति के अनुकूल आदर्श ढूँढ़ने से यह अभिप्राय नहीं कि दुर्गुणों का आदर्श ढूँढ़ा जाय। पवित्र भावना, उन्नति का प्रथम साधन है; दुर्गुण तो पतन के पायक हैं। वीरता, देशभक्ति, सत्यता, दानशीलता, सेवा, दया, पवित्रता आदि गुण हैं, जो आदर्श के प्राण हैं। आदर्श में अन्य गुणों के साथ किसी एक की प्रधानता

हाती है। वही गुण हमारी प्रवृत्ति का पथ-प्रदर्शक और हमारी उन्नति का हेतु होता है।

१६—उत्साह

विचार-सूची :—

(१) शरीर की चेतनशक्ति; उसका प्रभाव।
(२) उत्साह ही जीवन, अनुत्साह ही मरण है।
(३) उत्साह में विश्वास; आनन्द का आश्रय।
(४) अभिमन्यु, नेपोलियन, लव, कुश।
(५) पुरुष-सिंह; परिणाम।

कभी तो हमारा हृदय काम करने के लिए हिलोरें लेने लगता है और कभी हम निष्क्रियता की ओर झुक जाते हैं। यह क्यों? कारण यह है कि हमारे शरीर में जो चैतन्य शक्ति है, उसके जाग्रत रहने पर तो हृदय में उमङ्गें उठती हैं और जब वह किन्हीं अन्य चेष्टाओं से दब जाती है तो शिथिलता आने लगती है। यों तो जबतक प्राण शरीर में है, हृदय की धड़कन बन्द नहीं हो सकती; परन्तु उसमें उठती हुई उमङ्गों के समय के कम्पन और चेष्टाशून्य समय के कम्पन में बड़ा भारी अन्तर है। एकमें चेतनता का, और दूसरे में जड़ता का निवास है। चेतनता की इस अवस्था को ही उत्साह की अवस्था कहते हैं।

उत्साह ही जीवन और अनुत्साह ही मरण है। उत्साह से भरा हुआ हृदय भवसागर की वाधाओं की चिन्ता न करता हुआ, इस प्रकार आगे बढ़ता है, जैसे कोई जलयान समुद्र की अनन्त जलराशि पर लहराता हुआ जा रहा हो। वह जीवन को खेल समझता है और सदैव विजय की ही आशा रखता है। इसके विपरीत, उत्साहहीन पुरुष, जीवन-जलनिधि में पड़कर अपने हाथ-पाँव चलाना भूल जाता और हुप् हुप् करता हुआ रसातल की ओर जाता है। पहला कर्मवीर सिपाही की भाँति कमर कसे हुए निर्द्वन्द्व घूमता है, दूसरा कायरता का कङ्काल लिये हुए रक्षा का स्थान ढूँढ़ता है, अनुत्साही की आँखों के आगे सदैव अँधेरा ही अँधेरा रहता है, उसे सूझता ही नहीं कि किधर जायँ। अपना जीवन तक उसे भार हो जाता और संसार उसे असार प्रतीत होता है। ऐसे ही पुरुषों को जीवन्मृत कहते हैं, अर्थात् वे ज़िन्दा ही मुर्दा हैं।

जिन्हें उत्साह की शक्ति में विश्वास है, वे सदैव साहस का सहारा लेते हैं। कर्म ही उनका विशाल क्षेत्र है, और निरन्तर उद्योग ही अमोघ अस्त्र। वे विफलताओं से घवराते नहीं, वरन् उनसे पाठ सीखकर दूने उत्साह से काम करते हैं। सिद्धि उनके पीछे-पीछे चलती है। पराये मुख की ओर देखना वे जानते ही नहीं। अपना मार्ग वे आप वनाते और दूसरों के लिए उदाहरण बनते हैं। उनके फूल के समान खिले हुए चेहरे

को देखकर लोगों को प्रसन्नता होती और उनमें स्फूर्ति आती है। उनकी चाल-ढाल, बात-चीत सब में आनन्द की झलक दिखाई देती है और उनके साथ रहने से अकर्मण्य भी कर्मशील बन जाते हैं। ये जीवन के उपवन की बुलबुल हैं, जिनके सुरीले स्वर में अनूठी चहल-पहल भरी है।

बड़े-बड़े महारथियों से सञ्चालित कौरव-सेना के सामने जब भीम और युधिष्ठिर तक मन्दोत्साह हो गये थे, तब सोलह वर्ष का अभिमन्यु चक्रव्यूह-भेदन के लिए आगे बढ़ा था। नेपोलियन सेना सहित आल्प्स पहाड़ को पार करके शत्रुओं पर वज्र की तरह जा टूटा था। बालक लव और कुश ने जगद्विजयी राम की सेना के छक्के छुड़ा दिये थे। क्या आपने कभी विचार किया है कि यह किस शक्ति का प्रभाव था? यह अदम्य उत्साह की ही महिमा थी। यदि उत्साह न होता तो आज वायुयानों में उड़ते हुए आकाशचारी वीर अपने घरों में पड़े होते। इस उत्साह के पीछे कितने अपने प्राण तक नहीं खो बैठे! परन्तु, उससे औरों को अनुत्साह नहीं हुआ, वरन् उनका साहस बढ़ रहा है। उत्साही वीर सदैव प्राणों को हथेली पर रखकर काम किया करते हैं।

ऐसे पुरुष-सिंहों के विचार और संकल्प दृढ़ होते हैं। उत्साह का बल उनके रोम-रोम में समा जाता है। दृढ़ता रूपी कवच और उत्साह रूपी शस्त्र लेकर वे मानसिक दुर्बलताओं की सेना

का संहार कर देते हैं। कार्य करानेवाली यदि कोई शक्ति है, तो अदम्य उत्साह ही है। यही उत्साह ऋद्धि, सिद्धि, तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों फलों का दाता है। यही मानव-हृदय में निवासकर बुद्धिपूर्वक कार्य करता हुआ, आत्मा को प्रकाशवान् बनाता है। यही पतितों को उठाता और मृतकों को जिलाता है।

२०—दरिद्रता

पूर्व विचार :—

(१) दरिद्रता का तिरस्कार।

(२) दरिद्रता के दारुण दुःख; विदेश में भारतीय कुली।

(३) "नंगी क्या नहाय, क्या निचोड़े।"

(४) शारीरिक और मानसिक पवित्रता।

(५) दरिद्रता का उजला अंग।

(६) दरिद्र-नारायण।

दरिद्रता का तो नाम ही बुरा। इस पिशाचिनी के पाश में पड़कर, जो दशा होती है, उसकी तो कल्पना करते समय भी रोमाञ्च हो आता है। उसके वेश में ही मलिनता, घृणा, दीनता, दुर्बलता, दुतकार, तिरस्कार आदि का निवास है। दरिद्र को दूर नहीं जाना, उसके घर में ही उसका अनादर होने लगता है। बन्धु-बान्धव और मित्रमण्डली तो पीछे, उसके पुत्र कलत्र तक उसका मुख देखना नहीं चाहते। नीचातिनीच से लेकर नरपाल

तक इसके वश में होकर धूल खा जाते हैं। इसके फेर में पड़कर बड़े-बड़े धीरों का आसन हिल जाता, बुद्धिमानों की बुद्धि चकरा जाती और बलवानों की नसें ढीली पड़ जाती हैं। उनकी आँखों के आगे अन्धकार छा जाता और वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं।

दरिद्रता का दारुण दुःख ज्ञान को हर लेता और मनुष्य को निकम्मा कर देता है। दरिद्र व्यक्ति के चेहरे से, उसकी आँखों से, उसकी चाल से, उसकी बातों से और उसके व्यवहार से, ऐसी दीनता टपकती है कि उसका प्रभाव चारों ओर छा जाता है। वह जहाँ जाता है, करुणा उसके साथ-साथ चलती है। उसे देख-कर दया आती और देखनेवालों पर उदासी छा जाती है। किसी जाति वा देश की दरिद्रता देखकर तो आठ-आठ आँसू रोना पड़ता है। भारत और भारतवासियों की दशा, कहाँ-कहाँ हमारा सिर नीचा नहीं कराती ? हमारे पेट की तिल्ली इतनी बढ़ जाती है कि ठेस लगते ही फट जाती है। तपेदिक, मलेरिया, चेचक, हैज़ा, प्लेग आदि के तो हम आहार हैं। ये मुँह फाड़-फाड़कर हमारे ऊपर दौड़ पड़ते हैं। विदेश में जाइए, कुलियों के वेश में हमारी दरिद्रता मारी-मारी फिर रही है। वहाँ हम कोई राष्ट्र ही नहीं, ब्रिटिश साम्राज्य के एक अंग हैं। जब हम अपने घर में ही दास हैं, तो बाहर की बात ही क्या ? वहाँ हमारे लिए ऐसे नियम बन रहे हैं कि हमारा प्रवेश ही वहाँ कठिन हो चला है।

मज़दूरी के लिए हम और उपभोग के लिए वे, जिन्होंने हमारे ही हाथों से उन भूमियों को जंगल से उपवन वनाया है।

'नंगी क्या नहाय, और क्या निचोंड़े ?" ठीक है। दरिद्रों के मनोरथ भी मन के मन ही में रह जाते हैं। उनकी काम करने की शक्तियाँ मन्द पड़ जाती हैं। अभ्युदय और उत्थान की लहरें उनके मस्तिष्क में पानी की भाँति उठतीं और वहीं विलीन हो जाती हैं। वे क्या करें ? कोई व्यापार हाथ में लें तो धन चाहिए; कोई उद्यम करें तो साधन चाहिए; खेती करें तो लागत चाहिए। कोई काम ऐसा नहीं, जो बिना धन के पूरा हो सके। युग ऐसा है कि पूँजी-पतियों की ही तूती बोल रही है। श्रमजीवी-दल संगठित हो रहा है, जो इसी दरिद्रता के कष्टों के अनुभव का फल है। परन्तु, कोरे संगठन से दरिद्रता दूर नहीं हो सकती। अपने पैरों आप खड़ा होना होगा।

दरिद्रता का कारण केवल धनाभाव ही नहीं, शारीरिक और मानसिक दरिद्रता भी कुछ कम नहीं है। शारीरिक दरिद्रता के कारण हम किसीसे आँख से आँख नहीं मिला सकते। हमारा तेज मलिन पड़ जाता और हम कीड़े-मकोड़ों की गणना में आ जाते हैं। हृष्ट-पुष्ट और ऊंचे-पूरे व्यक्ति का प्रभाव ही कुछ और होता है। वह अपने कार्य को भलीभाँति सम्पादन कर सकता और समाज वा राष्ट्र के गर्व का कारण हो सकता है। मानसिक दरिद्रता इससे भी बढ़कर है। एक कहानी प्रचलित है कि सिंह

का बच्चा भेड़ों में रहकर भें-भें करने लगा था, उसकी मनोवृत्ति ही बदल गई थी। सिंह का शरीर रखते हुए भी वह प्रहार करना न जानता था। इसी प्रकार मानव-समाज के मस्तिष्क में जब दरिद्रता घर कर लेती है, तब वह मानव-समाज ही नहीं रह जाता। उसके विचारों में अभिमान, अभ्युदय, स्वतंत्रता आदि के भाव ही मन्द पड़ जाते और कभी-कभी तो मर जाते हैं। भारतवासियों की दास-मनोवृत्ति देश के पतन का एक महान् कारण हो रही है और बड़े-बड़े बलशाली राष्ट्रों के बीच में छोटा सा स्विटज़रलड स्वातंत्र्य-सुख का भोग कर रहा है। यह है मानसिक दरिद्रता का भेद।

कभी-कभी बुराई से भी भलाई उत्पन्न होती है। इसी प्रकार दरिद्रता के भी कुछ आनन्द हैं। अर्थ अनर्थकर है, अर्थात् धन से बुराइयाँ पैदा होती हैं, यह बात भी निराधार नहीं। धन की प्रचुरता प्रायः अनेक दुर्व्यसनों की ओर ले जाती है। आचारिक पवित्रता के दर्शन जितने दरिद्र-कुल में होते हैं, उतने सम्पत्तिशालियों के परिवार में नहीं। धनाढ्य, लोकापवाद से भय नहीं खाता और दरिद्र धर्मभीरु होता है। सत्य है, "दीनहिं सब कहँ लखत है, दीनहिं लखै न कोय।" धन के मद में हम अन्धे हो जाते और अनुचित काम करने में भी नहीं लजाते हैं। यही कारण है कि ब्रह्मचर्य आश्रम के तीन पुनीत व्रत रखे गये थे—(१) दरिद्रता के व्रत से हमारा यही अभिप्राय था कि

समाज के भावी सेवकों की दृष्टि आरम्भ ही से सबपर रहे। वहाँ समता का भाव रहे और हम अपने नागरिक जीवन का महत्व जान जायँ।

जो लोग लोक-सेवा की दृष्टि से दारिद्र्य-व्रत धारण करते हैं, वे दरिद्र नहीं। वे तो सेवा के द्वारा सेव्य बन जाते हैं। महात्मा गाँधी ऐसे ही दरिद्र-नारायण हैं। वे दरिद्र बनकर दरिद्रों को देख रहे हैं। यदि वैसा संकल्प, वैसे विचार, वैसा परिश्रम, वैसी पवित्रता और वैसी धुन, हम में भी हों तो न हम दरिद्र रहें, न हमारा देश।

२१—श्रद्धा

विचार-सूची :–

(१) श्रद्धा पर्वतों को भी चलायमान बना देती है।
(२) आचार्य वसु, बुद्ध, शङ्कर, नानक।
(३) सफलता की पहली सीढ़ी; व्यापक लक्ष्य; अटल विश्वास।
(४) आत्म-निर्भरता; परमात्मा का आश्रय।
(५) मधुर फल; दयानन्द, ईसा, गुरु गोविन्दसिंह।
(६) "यो यच्छ्रद्धः स एव सः।" मैज़िनी का उपदेश।

"Faith can move mountains."

अर्थात् श्रद्धा पर्वतों को भी चलायमान बना देती है।

ऊपर के वाक्य में एक गम्भीर तत्व निहित है। जो पर्वत बड़े-बड़े तूफानों और आँधियों के वेग से विचलित नहीं होते, जो पृथ्वी की अन्तराग्नि के विस्फोट को भी झेल जाते हैं, वे श्रद्धा के बल से किस प्रकार चल-विचल हो जायँगे, इस बात को मानने में साधारण बुद्धि सिर हिलाती है। परन्तु, यदि भाषा के अलङ्कार पर ध्यान दिया जाय, तो वास्तव में बाधाओं के पर्वत श्रद्धा के बल से सामने से हट ही नहीं जाते, चूर चूर हो जाते हैं। आश्चर्य नहीं, यदि श्रद्धा की अटलता पर्वतों की अचलता को भी दूर कर दे। श्रद्धा के बल का अनुमान भी सहज नहीं। इसने ऐसे ऐसे काम कर दिखाये हैं, जिनकी कल्पना भी कभी किसीने न की थी।

श्रद्धा के ही सहारे विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र वसु ने वृक्षों में जीव की कल्पना को प्रत्यक्ष प्रमाणित कर दिया। उनके द्वारा आविष्कृत यंत्रों का चमत्कार देखकर योरप, अमेरिका आदि पाश्चात्य देश, ओठों पर उँगली रख गये। बुद्ध, शङ्कर, नानक ने संसार की विचार-धारा को पलट दिया। कोलम्बस, न्यूटन, स्टीफ़न आदि ने क्या-क्या कर दिखाया, सो भी सभ्य संसार से छिपा नहीं है। भगवान् कृष्ण ने गीता में सत्य ही कहा है— "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।" अर्थात् जितेन्द्रिय और तत्पर हुआ श्रद्धावान् पुरुष, ज्ञान को प्राप्त करता है। फिर, वह ज्ञान किसी प्रकार का क्यों न हो। बड़े-बड़े दार्शनिक, वैज्ञानिक,

आविष्कारक, लेखक, शिल्पी, योगी, ऋषि, मुनि, वीर, योधा ही नहीं, चोर, डाकू तक श्रद्धा के आधार पर ही अपने अपने कार्य में सफल हुए हैं।

सफलता की पहली सीढ़ी श्रद्धा ही है। यदि ध्रुव श्रद्धा अर्थात् अटल विश्वास नहीं, तो हम न तो अपनी शक्तियों को एकाग्र कर सकते हैं और न किसी कर्म में तत्पर वा तन्मय हो सकते हैं। हमारे जीवन का लक्ष्य ऐसा हो कि हमारे समस्त जीवन का समावेश उसमें हो जाय। वह हमारे रोम रोम में व्याप्त हो; हमारी समस्त शक्तियाँ उसीके आकर्षण से अनुवद्ध हों, उसमें हमारा अनन्य भाव हो ; दूसरी बात पर हमारा ध्यान ही न जाय। इतना होने पर उसकी सफलता में हमारा अटल विश्वास हो ; कोई शक्ति हमें उसकी पूर्ति में योग देने से न रोक सके। हम उसीके लिए जियें, उसीके लिए मरें। सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते हम उसीका चिन्तन करें।

इस प्रकार का अटल विश्वास होने पर हम आत्म-निर्भरता से काम लें। एक बार बुद्धि के बल से ऊँचा और व्यापक लक्ष्य निश्चित करके हम अपने नियम आप बनायें। संसार हमारी उस लगन पर हँसे वा वाह-वाह कहे, हमें इसकी चिन्ता न हो। हमारा भाव केवल एक हो कि हमने उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जन्म लिया है, बिना उसे पूरा किये हमें मरने का भी अवकाश नहीं। उसके बिना हमारा जीवन ही निष्फल है। लोक

विरोध का भय हमारे पास न फटकने पावे। हमारा ध्रुवविश्वास रहे कि हमारे महान् उद्देश की सिद्धि में परमात्मा हमारा सहायक है। पवित्र आत्माओं, शुभ कार्यों और महान् उद्देशों की रक्षा भगवान् स्वयं करते हैं। बड़े-बड़े कर्तव्यशीलों के सामने ऐसी वाधाएं आ जाती हैं कि उनके पाँव डिग जाते हैं; निराशा से उनका कलेजा काँपने लग जाता है; विपत्ति के वादल उन्हें अन्धकार में डुबा देते हैं। ऐसे समय पर कोई मानवी सहायता काम नहीं देती। उस समय केवल परमात्मा का हाथ ही उनके सिर पर रहता और उन्हें घुटने टेक देने से बचा लेता है। वे मनुष्यों की सहायता की उपेक्षा करते हुए, उसे प्रतिपल अपने समीप पाते हैं। उनकी भावना ही यह होती है कि हम तो निमित्त मात्र हैं, यदि जय है तो परमात्मा की और पराजय है तो उसीकी। उसका दयारूपी जल, श्रद्धा की लहलहाती हुई लतिका को, वाधाओं के तप्त झोंकों से सूखने नहीं देता।

इन भावों के साथ श्रद्धा वह अभीष्ट फल देती है, जिसकी शीतलता हमारे परिश्रम की थकावट को क्षणमात्र में हर लेती है। उस समय हम उस अपूर्व आनन्द को प्राप्त करते हैं, जो कर्तव्य-पालन के पश्चात् मिला करता है। हमारी श्रद्धा हमें वहाँ ले जाकर बिठा देती है, जहाँसे हम अपने बोये हुए बीजों को फलता फूलता देखकर फूले नहीं समाते। उस समय जो हमारे मार्ग में रोड़े अटकाते थे, वे ही सतृष्ण नेत्रों से हमारी

ओर देखते हैं; नहीं, अपने कर्मों पर पश्चात्ताप करते हैं। स्वामी दयानन्द की श्रद्धा जब फल लाई, तो उसकी कटुता में कितनी मधुरता थी, इसका एक उदाहरण लीजिए। उस समय एक पुरुष ने उनके पाँव पकड़ लिये और रोते हुए प्रार्थना की कि 'भगवन्, मुझे क्षमा कीजिए, मैं उन पापियों में से हूँ, जिन्होंने आरम्भ में आपके ऊपर पत्थर फेंके थे।' ऐसे श्रद्धा-भाजन दयानन्द संसार में कितने नहीं हुए? गुरु गोविन्दसिंह और ईसा के प्राण लेनेवालों को क्या पता था कि उनका सन्देश इतना पवित्र है, जिसके सुनने को एक दिन समस्त विश्व लालायित होगा?

विद्यार्थियों की श्रद्धा ही उन्हें अध्ययन के अनेक कष्टों का सहन कराती और आगे बढ़ाती है। यदि उन्हें सफलता में श्रद्धा न होती, तो वे अपने जीवन को क्यों कष्टमय बनाते? उनमें भी 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' अर्थात् जिसकी जैसी श्रद्धा है, वह वैसा ही बन जाता है। अन्तःकरण की प्रवृत्ति पर श्रद्धा का सर्वस्व निर्भर है और श्रद्धा की अटलता पर ही हमारे चरित्र का भवन-निर्माण होता है। इसलिए जीवन को सफल बनाने के लिए श्रद्धा-पूर्वक कार्य करना हमारा परम धर्म है। इटली के उद्धारक महात्मा मैज़िनी का यह उपदेश स्वर्णाक्षरों में अङ्कित करने योग्य है।

"अपने हृदयों को श्रद्धा से परिपूर्ण करो। केवल मुँह से श्रद्धा का नाम न लो, वरन् अपने रोम रोम में श्रद्धा भरो। अपने मन और वाणी को एक बनाओ, अपने आचरणों को पवित्र करो। अपने लक्ष्य की सिद्धि में तन्मय होकर लग जाओ। अपने जीवन को यहाँ तक धर्ममय बनाओ कि लोग तुमको धर्म की, निस्पृहता की, लोक-सेवा की, अनन्यता की, सात्विक श्रद्धा की, चलती-फिरती मूर्ति समझने लगें।"

२२—मनुष्यता

पूर्व विचार :—

(१) मनुष्य सर्वोत्तम प्राणी है।
(२) मनुष्यता का पद।
(३) स्वार्थ और परार्थ।
(४) मनुष्यता के गुण और मनुष्य की शक्ति।
(५) पारस्परिक घृणा का जन्म।
(६) मनुष्यता का स्थान और उसकी खोज।

इस बात से किसीको इनकार नहीं कि मनुष्य सर्वोत्तम प्राणी है। वह अपनी बुद्धि के बल से संसार की सुख-सम्पत्ति का अधिकारी हुआ है। अपने गुणों से वह अन्य जीवधारियों से कहीं अधिक विकास कर गया है। नये-नये आविष्कारों तथा अपने निर्माण-कौशल द्वारा उसने नैसर्गिक सृष्टि की शोभा

सौगुनी बढ़ा दी है। इसलिए उसे वसुन्धरा के भोग करने का अधिकार है और यह कहना अनुचित नहीं माना जाता कि संसार की सब सामग्रियाँ मनुष्य के सुखके लिए बनाई गई हैं।

मनुष्य इन अधिकारों तथा बुद्धिवल के द्वारा सबका स्वामी अवश्य है, परन्तु मनुष्यता इन सबसे ऊपर है। केवल शक्ति द्वारा अधिकार प्राप्त करलेना एक बात है और सद्गुण द्वारा किसीके मन को वश में कर लेना दूसरी। सद्गुण की मोहनी शक्ति का पद बहुत ऊँचा है। मनुष्यता मनुष्य का ऐसा ही सद्गुण है, जिसकी ओर विश्व का हृदय अपने आप खिंच आता है।

उच्च पद के साथ उसका एक उत्तरदायित्व होता है। वह उत्तरदायित्व अपने अधिकार और शक्ति का दूसरों के कल्याण के लिए प्रयोग करना है। इसीको परार्थ कह सकते हैं। अपने सुख आदि के लिए कार्य करना स्वार्थ है, स्वार्थ स्वभावतः सभी प्राणियों में पाया जाता है, परन्तु परार्थ के लिए उद्यत होना, विकसित विचारों तथा उच्च भावनाओं के बिना असम्भव है। यही पदार्थ-भावना मनुष्य को मनुष्य बनाती और उसे इस लोक से ऊँचा उठाकर सुरवन्द्य बना देती है।

पराये दुःख में सहानुभूति दिखाना; जीवमात्र के कल्याण की इच्छा रखना; परोपकार के लिए त्याग दिखाना, पीड़ितों की रक्षा में अपनी शक्ति लगाना, पतितों को उठाना और दुष्टों का

दमन करना आदि ऐसे सद्गुण हैं, जो मनुष्य की विभूति हैं। यदि अभिमान के वश में होकर अथवा अन्य किसी कारण से कोई व्यक्ति समाज के लिए दुःख वा क्लेश का हेतु हो, तो वह मनुष्य पद से गिर जाता है। अपने बल का अनुचित प्रयोग करने से वह पशुता के पाश में पड़ जाता है। मद में आकर वह मनुष्य को मनुष्य नहीं समझता और अपने आपको सर्वशक्ति-सम्पन्न समझने लगता है। उस समय उसे अपने जीवन की क्षणभङ्गुरता और परिमित शक्ति का ज्ञान नहीं रहता।

मनुष्यता के नाते को भूलकर ही एक जाति दूसरी जाति को बन्धन में डालती और एक राष्ट्र, दूसरे राष्ट्र पर अधिकार जमाने की ताक में रहता है। इसी विचार के कारण उच्च और नीच की भावना बढ़ती जाती और पारस्परिक घृणा का जन्म होता है। बात यहाँ तक बढ़ जाती है कि गोरे मनुष्य कालों वा पीलों को तुच्छ समझते हैं, तो द्विज शूद्रों को छूना तक पाप मानते है। मनुष्य जाति की एकता उस समय ध्यान में भी नहीं आती और हम अपने भाइयों के साथ ही श्वान-शूकर का सा व्यवहार करने में लज्जित नहीं होते। तारीफ़ की बात यह है कि यह सब सभ्यता के नाम पर किया जाता है। जो असभ्य हैं, अशिक्षित हैं, वे हमारी दया और सहानुभूति के पात्र नहीं, घृणा के आस्पद बन जाते हैं।

मनुष्यता का निवास मनुष्य के सुन्दर वेश वा सभ्य व्यवहार में नहीं, किन्तु उसके उदार हृदय और शुद्ध आचरण में है। यदि हम मनुष्य हैं, तो हमारा धर्म है कि हम दूसरों को भी मनुष्य बनावें, यदि हम बड़े हैं, तो दूसरों को ऊँचा उठावें। सारांश यह है कि यदि हमें मनुष्यता की खोज है, तो हम मनुष्यों में मिलें उनके हृदयों को टटोलें और उनकी सेवा को अपना अहो-भाग्य समझें।

२३—चरित्र-बल

विचार-सूची :—

(१) गौतम ; प्रह्लाद ; पाण्डव।

(२) चरित्र मनुष्य की निज की सम्पत्ति है।

(३) चरित्र की छाया।

(४) चरित्र-रक्षा; भीष्म; वीर वैरागी; कर्ण।

(५) चरित्र-शीलता।

गौतम ने राज-पाट छोड़ दिया। आधी रात के समय पुत्र-कलत्र का मोह तोड़, वे घर से चल दिये; स्वयं राजा से रङ्क बन गये। वैदिक धर्म की हिंसा के विपरीत उन्होंने अपना स्वर ऊँचा उठाया। लोक उनके विरुद्ध हो गया, परन्तु फिर भी वे बुद्ध हुए। उनकी शरण में सहस्रों ही नहीं, करोड़ों-अर्बों को निर्वाण-पद मिला और मिल रहा है। प्रह्लाद पर विपत्तियों

के वज्र गिराये गये। उस बालक को पहाड़ों की चोटियों से पटका गया; कुम्हार के आँवें में फूँका गया; होलिका की गोद में जलाया गया, किन्तु उसका बाल भी बाँका न हुआ। वैरागी, बुद्ध और बालक प्रह्लाद के पास कौन-सा बल था, जिससे वे जगद्वन्द्य हुए; अपनी अकिञ्चनता में भी सम्राटों से बढ़ गये? किसके बल से हमारे ऋषि-मुनियों ने वन के कन्द, मूल, फल खाकर शास्त्रों की रचना की थी? किसके बल से वन-वन भटकते हुए पाण्डव, कौरवों की सङ्गठित-सेना से लोहा लेने में समर्थ हुए थे? यह सब चरित्र-बल की ही महिमा थी।

चरित्र मनुष्य की निज की सम्पत्ति है। उसके सामने ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ तक तुच्छ हैं। वह ज्ञान, वैराग्य और भक्ति से भी परे है। संसार के सब सद्गुण एक ओर, और चरित्र दूसरी ओर रखकर तौलिए, चरित्र का ही पलड़ा भारी रहेगा। चरित्र ही गुण की भूमि है। जिस प्रकार पानी का कोई रंग नहीं होता, वह जैसे रंग में मिल जाता, वैसाही उसका भी रंग हो जाता है, इसी प्रकार गुण भी जैसे चरित्र में मिलता है, वैसा ही रूप धारण करता है। यदि हमारा धन चला गया, तो कुछ नहीं गया; यदि हमारा स्वास्थ्य चला गया, तो कुछ चला गया, और यदि हमारा चरित्र चला गया, तो सब कुछ चला गया। "आचारः परमो धर्मः" अर्थात् आचार ही सब से बड़ा धर्म है। यदि किसीने शास्त्रों का अध्ययन किया, धर्म के तत्व

को पहचाना, परन्तु उसके अनुकूल आचरण न किया, तो क्या किया ? किसी गधे पर ग्रन्थों का बोझ लाद दिया जाय, तो क्या वह विद्वान् हो जायगा ? चरित्रवान् का अल्पज्ञान भी चरित्रहीन के अगाध पाण्डित्य से बढ़कर है।

हम विद्याध्ययन में अनेक कष्ट उठाते और साधुओं की संगति तथा सेवा में लगे रहते हैं। शारीरिक तप तथा मानसिक ध्यान में मग्न और सत्य की खोज वा विज्ञान के विचार में निरत रहते हैं। साहित्यिक ग्रन्थों का मन्थन तथा पुराणों का पारायण करते हैं। इन सबका ध्येय चरित्र का निर्माण ही होता है। चरित्र की साधुता वा असाधुता ही हमारे जीवन की छाया है। उसीको देख-देखकर लोग हमें पहचानते और हमारी पद-प्रतिष्ठा की श्रेणी नियत करते हैं। हम कुछ करें वा न करें, हमारा चरित्र मानव-समाज पर निरन्तर अपनी छाया डालता रहता है। एक दीप्तिमान तपस्वी के तेज को देखकर देखनेवाले के मन में जिस प्रकार प्रकाश की भावना का उदय होता है, उसी प्रकार एक मद्यप के मद्यपान-द्वारा विकृत-वदन को देखकर अन्धकार की रेखा उसके सामने खिंचे बिना नहीं रहती। बड़े-बड़े विद्यालयों तथा गुरुकुलों की शिक्षा का ध्येय वहाँ की डिग्रियाँ (बी. ए. एम. ए. आदि) नहीं, वरन् वहाँ की वह पवित्र और उच्च भावना है, जिसके द्वारा हमारे चरित्र में प्रेम, दया, उपकार, कर्तव्य, सेवा विनय और शील आदि के अङ्कुर उत्पन्न होते हैं।

विपत्तियों के पहाड़ टूट पड़े हैं; धन, जन, सर्वस्व छीना गया है; नंगी तलवार सिर पर नाच रही है; हाथियों के पाँवों तले कुचला गया है; तो भी चरित्रवान् अपने चरित्र पर अटल रहे हैं। चरित्र को दबानेवाली शक्ति आज तक न उत्पन्न हुई और न हो, वह अजेय है। चरित्र भगवान् का प्यारा और सङ्कट का सहारा है। भीष्म के पास एक चरित्र है, वे उसके बल पर भगवान् कृष्ण को चुनौती देते हैं। उनके सामने भगवान् अपना व्रत तोड़कर रथ का चक्र धारण करते और भीष्म हँस देते हैं। वीर-वैरागी सिक्ख के पुत्र का कलेजा उसकी आँखों के सामने निकाला जाता, और उसकी छाती में मारा जाता है। पर उसकी आँखें चरित्र-बल से ध्रुव हैं, वह अपने धर्म पर अटल है। कर्ण रण-क्षेत्र में घायल पड़ा है, उसके कवच और कुण्डल अजेय हैं, उन्हींसे वह अमर है। विप्र-वेष में कृष्ण उसके पास जाते हैं, और कवच-कुण्डल की भिक्षा माँगते हैं। कर्ण छद्मवेशधारी ब्राह्मण को पहचान लेता है, परन्तु कवच-कुण्डल उतारकर चरित्र की लज्जा रखता है। धन्य है इन चरित्रशीलों की जननी को, धन्य है इनकी धरित्री को!

मनुष्य जन्म पाकर यदि हम कुछ भी प्राप्त कर सकते हैं, तो सबसे पहले हमें चरित्र-बल प्राप्त करना चाहिए। सांसारिक वैभव और सम्पत्ति पीछे की बातें हैं। अपनी नीति-कुशलता और वाक्चातुरी के बल से भोले और अपढ़ लोगों से धनार्जन करने-

वाले तथा समाज में विष का बीज बोनेवाले एक सम्पत्तिशाली वकील से अपने खेत पर परिश्रम करके रूखी-सूखी खानेवाला एक चरित्रवान् किसान कहीं अच्छा है। चरित्र की पवित्रता के लिए किसी विशेष वायुमण्डल की आवश्यकता नहीं। उसका क्षेत्र किसानों, व्यापारियों, वकीलों, मजदूरों, गृहस्थों, सन्यासियों, बच्चों, बूढ़ों सभीके समाज में है। अपने अपने धर्म को पहचानने और निश्च्छल भावना से काम करने से शील की रक्षा सर्वत्र हो सकती है। रहीम कवि की इन पंक्तियों में सच्चरित्रता वा शील-युक्त जीवन का सार छिपा है :—

"रहिमन रहिबो वा भलो, जौ लों शील समूच ?
शील-ढील जव देखिये, तुरत कीजिये कूच ॥"

२४--कलम और तलवार

पूर्व विचार :—

(१) शेर बकरी की लड़ाई।
(२) जर्मनी ; नेपोलियन।
(३) दोनों की प्रवृत्तियों की तुलना।
(४) कलम का विराट् रूप।
(५) बीज कलम ही बोती है।
(६) दोनों की विजय ; अकबर और तुलसीदास।
(७) प्रेम की विजय।

कमल और तलवार की लड़ाई देखने में तो शेर और बकरी की लड़ाई है। तलवार तो दूर, उसका नन्हा-सा बच्चा चाकू भी अगर चाहे तो कलम के टुकड़े टुकड़े उड़ा दे। भला, कहाँ गिड़गिड़ाती हुई मुँहफटी कलम और कहाँ चमचमाती हुई पानी-दार तलवार ? कहाँ उसकी 'झड़क्, झड़क्' और कहाँ इसकी 'चर चर' ? कहाँ उसकी वहाई हुई रक्त की नदियाँ और कहाँ इसके मुँह से टपकती स्याही की बूँदें ? तुलना की कोई बात भी तो हो ! परन्तु यह छोटी-सी दो जीभवाली छरहरी नागिनी शेषनाग की सहचरी की भाँति पृथ्वी को उठाये उठाये फिरती है।

जर्मनी इसके ऊपर तलवार लेकर टूट पड़ा। इसकी लिखी हुई सन्धि की उसने धज्जियाँ उड़ा दीं। यह नागिनी चुपचाप पड़ी अवसर ताकती रही और चारवर्ष पीछे वरसेलीज़ में वह डंक मारा कि जर्मनी से नाक रगड़वा दी। मुन्ना अभी तक पेट के वल घिसट रहा है। रूसो और वाल्टेयर के हाथ में पहुँच कर इसने वे बीज बोये कि योरप के सारे सम्राट दहल गये और फिर महान् विजयी तेगधारी नेपोलियन को भी सेंट हैलेना का पानी पिला दिया। निस्सन्देह तलवार के सामने यह तुच्छ पदार्थ है, परन्तु इसके पेट में डाढ़ी है। इसका वार ऐसा गहरा और ऐसा मर्म-भेदी होता है कि उसका मारा सहज नहीं पनपता। यह विधाता के अङ्कों की भाँति राष्ट्र और समाज के भाग्य-विधाताओं के हाथ से नित्य कितने ही भाग्यों का निर्णय करती रहती है।

दोनों ही हमारे हाथ के हथियार है। एक बैठे बैठे हृदयों पर प्रहार करता है, दूसरा रण-क्षेत्र में गर्दन पर। गहरी दृष्टि से देखा जाय तो एक का क्षेत्र बड़ा विशाल और दूसरे का सङ्कुचित है। कलम मानव-हृदय की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों में एकसा काम करती है और तलवार केवल क्रोध तथा रोष की पोषिका-मात्र है। तलवार भय की जननी है; क्रोध की प्रतिमूर्ति है। वह शत्रु को अधीन करके वलपूर्वक आत्म-समर्पण कराती है और जहाँ वह आँख से ओझल हुई कि विजित वैरी का हृदय विप्लव करने लगा। कलम श्रद्धा, सहानुभूति, प्रेम, दया आदि का वह जादू डालती है कि सदा के लिए उसकी कान पकड़ी छेरी हो जाते हैं। उसकी विजय चिरस्थायिनी होती है, वह हमें अधीन करके भो हमारी स्वतंत्रता का अपहरण नहीं करती, वरन् उसे विकसित होने का अवसर देती है।

विराट्रूपिणी कलम जिस समय अपने क्षेत्र में क्रीड़ा करती है, उस समय "जाकी रही भावना जैसी। प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी" प्रत्यक्ष हो जाता है। कभी वह सृष्टि के सौन्दर्य का चित्र खींचने लगती है, तो कभी धनुष की टङ्कार और शस्त्रों की झङ्कार से कानों को फोड़ डालती है। कभी शिव-ताण्डव कराके ज्वालाजाल की पुष्प-वर्षा करती है, तो कभी भूकम्पन और प्रभ-ञ्जन-वेग की भय-विभीषिका दिखाती है, कभी मज्जा, मांस, मलादि के वर्णन से अरुचि उत्पन्न कराती है। तो कभी वात्सल्य

के प्रसाद में अरोचकता को अर्द्धचन्द्र देती है। कभी पीड़ितों के चीत्कार से करुणा के आँसुओं की झड़ी लगाती है, तो कभी भक्ति-रस की अमृतधारा में वहा देती है। कभी ओज की उमङ्गें उठाती, कभी अपने दुष्कृत्यों पर लजाती है। कभी शान्त-लोक में विचरण कराती और कभी माया के प्रपञ्च में डुबाती है। उसकी नोंक से जिस भूमि को कुरेदा जाय, उसीमें भिन्न-भिन्न भावों की प्रसूति होने लगती है।

तलवार की वीर-गाथाओं का वीज-वपन भी कलम ही करती है। जो निरक्षर भट्टाचार्य हैं, वे अपनी आँखों से बहुत कुछ काम लेते हैं, पर तौ भी कलम के प्रभाव से वे नहीं वच सकते। रण-कड़खों की तान सुनते ही उनकी भी रगें फड़क उठती हैं और उनका हाथ तलवार ही पर पड़ता है। वीरभाव का उद्रेक कलम के ही बल से किया जाता है। तलवार का कार्य समाप्त होने पर बीभत्स-काण्ड के दृश्य से जो विराग उत्पन्न होता है, वह भी कलम ही की कृपा से दूर होता है। कुरुक्षेत्र के समराङ्गण में एकमात्र धनुर्धर अर्जुन का गाण्डीव जव हाथ से छूट पड़ा था, तव "क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप" कहने तलवार नहीं आई थी; वहाँ कृष्ण के रूप में कलम ही वोल रही थी।

तलवार से विजय मिलती और अखण्ड-कीर्ति स्थापित होती है। इस विचार से भी कलम की करतूत कम नहीं। एक ही

काल में सम्राट अकबर और गुसाईं तुलसीदास ने जन्म लिया। एक ने तलवार के बल से विशाल-साम्राज्य की स्थापना की, दूसरे ने एक छोटी-सी कोठरी में बैठकर कलम चलाई। दोनों कीर्तिशाली हुए। परन्तु गोस्वामी जी जनता के हृदय-सम्राट् हैं। उनका साम्राज्य आज भी एकछत्र है, वरन् दिन दिन बढ़ रहा है। वे केवल भारत के ही नहीं, विश्व के सम्राट् बन रहे हैं। उनकी विचार-धारा में डुबकी लगाकर भारतीय सभ्यता और सदाचार अपने दिव्यतेज का प्रकाश फैला रहे हैं और अकबर का साम्राज्य क्या हुआ ? वह अँगरेज़ों के हाथ में चला गया, उसकी प्रभुता विलीन हो गई। तुलसी का साम्राज्य यावच्चन्द्रदिवाकर रहेगा और उसकी कीर्ति-कौमुदी असंख्य हृदयों को शान्ति देती रहेगी। क्या योरप का कोई भी सम्राट् शेक्सपियर की समता कर सकता है ?

प्रेम की विजय ही सच्ची विजय है। बाहु-बल की शक्ति का लोहा मानकर पराजित पक्ष दब जाता है, उसके हृदय पर विजय नहीं प्राप्त होती। उसके दबे हुए भावों का उभार जब अवसर पाता है, तो ज्वालामुखी का-सा उद्गार होने लगता है ! कलम का उद्गार हृदय का उद्गार है। वह सीधा हृदय को छूता है। उसकी विजय में मुनियों की शान्ति और वीरों की कान्ति दोनों का अलौकिक घोल-मेल है। वह कुसुम-कोमल, और कुलिश-कठोर है ; यही उसकी विचित्रता है।

२५—पढ़ने के आनन्द

विना किसी उद्देश के पढ़ना, पढ़ना नहीं ; पढ़ना वही है, जिससे विवेक और विचार बढ़े। इस प्रकार के पढ़ने में जो आनन्द है, वह वाणी के वर्णन का विषय नहीं ; वह अनुभव के हृदय की ज्योति है। त्रैलोक्य का सौन्दर्य और तीनों काल की सम्पदा उसके अन्तर्गत ही रहती है। स्वाध्याय के सुख-लोक में, सुर-लोक एक पर्ण-कुटी है। सूर्य, चन्द्र, तारागण उसके प्रकाश-मन्दिर की फुल-झड़ियाँ हैं। उसमें सच्चिदानन्द के सत् और चित् के संयोग में आनन्द का आनन्द है; उसकी विश्व-वाटिका में मानस-हंस का सरोवर है।

एक कोने में बैठकर मनमाने सुख का साधन पढ़ने में मिलता है। जी चाहे तो वाल्मीकि के तपोवन में विचरण कीजिए ; जी चाहे तो हल्दीघाटी में प्रताप के प्रताप का उत्कर्ष देखिए। चाहे सूर के पदों पर भ्रमर बनकर मँडराते रहिए ; चाहे तुलसी के मानस-सर में डुबकी लगाइए। चाहे व्यास के अति-विक्रम का ध्यान कीजिए। चाहे कालिदास के काव्य-लोक का आनन्द लूटिए। चाहे वेद और उपनिषदों का मनन कीजिए ; चाहे गीता के गौरव में गोते लगाइए। चाहे शेक्सपियर की मानव-प्रकृति का विवेचन कीजिए ; चाहे मिल्टन की ज्ञान-गरिमा को

अवगाहिए। अगणित ग्रन्थों के महोदधि में जितना-जितना गहरा पैठिए, उतने ही बढ़िया रत्न निकालते रहिए।

ग्रन्थों में समता का साम्राज्य है। वहाँ राजा-रङ्क का प्रश्न ही नहीं। जिनकी ड्यौढ़ी से लोगों को दुतकार दिया जाता है, उनसे वहाँ खूब हँस-हँसकर बातें करते हैं। जिनके तेज के सामने आँख नहीं उठ सकती, उनके बराबर बैठकर वहाँ वाद-विवाद होता है। क्षण में बालक, क्षण में युवा, क्षण में वृद्ध, क्षण में पुरुष, क्षण में नारी, जो रूप चाहें धारण कर लें, कोई देख ही नहीं सकता। वहाँ किसीको किसी प्रकार की रोक-टोक नहीं; सबको पूर्ण स्वाधीनता है। वहाँ सब प्रकार का समाज है, जैसी रुचि हो चुन लीजिए। भय, विषाद, घृणा, लज्जा, क्रोध, करुणा, दया, दान, विनोद, हँसी सब वहाँ एक ही आँगन में खेलते हैं।

आत्मपरीक्षा का तो पढ़ने में अलभ्य अवसर प्राप्त होता है। एक दूसरे से तुलना करके गुणों के ग्रहण और दोषों के परित्याग की भावना जाग्रत् होती है। आलोचनात्मक दृष्टि से जगत् को देखने का स्वभाव बनता और बुद्धि का द्वार खुल जाता है। सफलता का मार्ग दृष्टि आता और विफलताओं पर विजय का उत्साह उमड़ता है। जीवों पर दया, लोक की सेवा, जीवन की पवित्रता, कर्म की निष्ठा, ईश्वर में श्रद्धा, पाप से निवृत्ति और धर्म में प्रवृत्ति के भावों का उदय होता है। भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों काल की कल्पना विद्यमान रहती और मनोवृत्तियों

के मनोरञ्जन के साथ माया के आवरण में मानसिक शान्ति की झाँकी होने लगती है। उस मौन-लोक के प्राणी बड़े साधु, सुहृद्, उदार और मिलनसार हैं। उनके साथ रहकर, संसार के मायावी जीवों से मिलना तुच्छ प्रतीत होता है। उनकी संगति में आनन्द और अतुलनीय मोद-विनोद है।

२६—१६२६ की चुनाव-लीला

पूर्व विचार :—

(१) सदियों की दासता; वोट का अधिकार।
(२) वोट क्या है?
(३) वोट के अधिकारी।
(४) कौंसिलों में देश-सेवा।
(५) राजनैतिक दल।
(६) चुनाव-लीला के कुछ अभिनय।
(७) कार्यकर्ताओं की करतूतें।
(८) मत-भेद।

सदियों से दासता के बन्धन में पड़ी हुई भारतीय जनता अपनी पराधीनता का अनुभव करने लगी है। संसार की स्वतंत्र जातियों को देखकर उसके भी हृदय में स्वतंत्रता की भावना प्रबल हो उठी है। इस उठती हुई भावना को देखकर हमारी चतुर सरकार ने भी कुछ अधिकार दिये हैं, जिनके द्वारा हम धीरे धीरे

स्वराज्यपथ की ओर ले जाये जा रहे हैं। हमारे चुने हुए प्रतिनिधि कौंसिलों में जाते और वहां हमारी भलाई पर विचार करते हैं। चुनाव के इस अधिकार को वोट कहते हैं।

वोट क्या है? वोट ही वह पवित्र अधिकार है, जिसका 'कन-कन' जुड़ने से स्वराज्य रूपी 'मन' बनेगा। हमारा यह अधिकार जन्म सिद्ध है, ईश्वर-दत्त है। हमारे देश के भाग्य पर अवलम्बित है, और हमारी योग्यता का सार यही है। गवर्नमेन्ट क्या है? कोई भूत नहीं, प्रेत नहीं, देव नहीं, राक्षस नहीं, और वह कोई हौआ कदापि नहीं। हमारी राय के अनुसार जो नियम वा क़ानून बनें, उन्हींको हम सब मानें यही गवर्नमेन्ट है और हमारी राय ही वोट है। इसलिए वोट ही गवर्नमेन्ट का माँ-बाप है। जिस प्रकार बेटे का सपूत वा कपूत बनाना माँ-बाप के हाथ में है, उसी प्रकार गवर्नमेन्ट का अच्छा वा बुरा बनाना वोट की करामात है। वोट गवर्नमेन्ट रूपी बरगद का छोटा-सा बीज है। परन्तु, यह ऐसा हथियार है कि ठीक बैठे तो विपक्षी का धुआँधार उड़ा दे, और चूक जाय तो अपना ही सिर धड़ से हटा दे। इसलिए, बहुत समझ-बूझकर और कुशलता के साथ इसका प्रयोग करना उचित है।

इतना बड़ा हथियार हमारे उन भाइयों के हाथ में आ गया है, जिनमें से बहुत से इतने भोले हैं कि वे देश वा राज्य-शासन आदि का नाम तक नहीं जानते। वे जानते हैं कि राज्य की सेनाएँ

बड़ी बलवती हैं, पुलिस बड़ी कठोर है, हाकिम बड़े होशियार हैं। उन्हें शासन के संहारक स्वरूप का अनुभव-जन्य बोध है, उसके सुधारक स्वरूप का बहुत कम वा नहीं के तुल्य। अन्न और नमक उनके सर्वस्व हैं, परमेश्वर हैं। उन्हें अन्य झंझटों से घृणा है। सरकार कोई हो उन्हें चिन्ता नहीं, वे अलखराम अपनी गुदड़ी में मस्त हैं। स्वाधीनता वा दासता का वे अनुभव ही नहीं करते। अब रहे वे, जो पराधीनता के कष्टों से अकुला उठे हैं, जो देश को स्वतंत्र देखने के लिए लालायित हैं, जो देश पर सर्वस्व निछावर कर रहे हैं। वे ही कौंसिलों में प्रवेश करने के लिए आगे बढ़ते और चुनाव-लीला का नाटक खेलते है।

सरकार के साथ काम करके यदि देश की कुछ सेवा हो सकती है, तो उसका सबसे अच्छा अवसर कौंसिलों में ही मिलता है। प्रत्येक देश का उद्धार वहाँ के पुरुष-रत्नों के द्वारा ही हुआ है। उन्हींके मस्तिष्क की उपज पर देश का भाग्य-निर्माण अवलम्बित है। इसलिए योग्य से योग्य और सच्चे देश-सेवियों के लिए ही वोट देना और उन्हें चुनना चाहिए। परन्तु यश की लालसा बड़ी प्रबल होती है। स्वार्थ का त्याग बड़ा कठिन है। प्रभुत्व का प्रेम बुद्धि पर परदा डाल देता है। ऐसे ही कारणों से हमारी मनोवृत्ति में दासता ने ऐसा विकार उत्पन्न कर दिया है कि हम एक स्वर से कुछ कह ही नहीं सकते। अपनी अपनी

ढपली पर अपना अपना राग अलापते हैं। इसी रण में वन्धु-विरोध का निन्दनीय अभिनय होता है।

१९२६ की चुनाव-लीला में बड़े-बड़े विचित्र दृश्य देखे। देश में चार प्रधान दल थे। (१) असहयोगी दल (२) कांग्रेस दल वा स्वराज्य-दल (३) स्वतंत्र-कांग्रेस दल (४) नरम दल। पहला दल चुप था, वह सरकार से मिलने में देश को भलाई ही नहीं देखता। चौथा दल सरकार से इतना मिलना चाहता है कि जनता उससे संतुष्ट नहीं। दूसरा दल सरकार को दबाकर स्वराज्य छीनना चाहता है और तीसरा भी चाहता यही है, पर सरकारी पदों को स्वीकार करके। इन्हीं दूसरे-तीसरे दलों का संघर्ष इस वार के चुनाव में हुआ। उसमें हमारी मनोवृत्ति का पूरा पता चल गया।

बड़ी बड़ी अद्भुत लीलाएँ हुईं। कहीं गोपियों के मनको हरनेवाली बाँसुरी बजी; कहीं मोर-मुकुट के मोती-लाल चमके। कहीं द्रौपदी की लाज-पत रखी गई; कहीं बाल-मण्डलियाँ केलि करती रहीं। कही केशी, कंश, बकासुर जय कर लिये गये, कहीं जरासंध को चीरने के लिए सेन चले। निस्सन्देह नये नये पैंतरे बदले गये, पर चोट कहाँ पड़ी? अपने ही भाइयों के सिर पर, अपनी ही माता की छाती पर। बड़े वड़े पूज्य चरणों से, वन्द-नीय बाहुओं से, महामान्य मुखों से ऐसा गँदला पानी उलीचा गया कि लज्जा इस नंगे नाच को देखकर अपने अङ्ग सिकोड़

कच्छप बन गई। भोली श्रद्धा भटक-भटककर बावली हो गई। पतन अपने पंख फैला-फैलाकर उछलता फिरा।

पैसेवालों ने अपने पैसे को पानी की भाँति बहाकर प्रभुता के पद चूमें। जाति-पाँति के चौधरियों ने बिरादरी के नाम पर नाम लूटा। हिन्दू-हितैषियों ने हिन्दुत्व की आड़ में कीर्ति कमाई। मुसलमानों ने मुसलिम हितों की रक्षा का राग अलापा। चन्दे की कमी से लड़खड़ाती हुई संस्थाओं ने दान का नाम निकाला। प्यासे ग़रीबों ने कुएँ खुदवाये। पदधारियों ने अपनी पदवी की लज्जा रखी। सम्बन्धियों ने सम्बन्ध निभाया। किसानों ने ज़मींदारों के प्रति अपनी भक्ति दिखाई। ज़मींदारों ने अपनी शान का नमूना दिखा दिया। जिनकी जीभ में बल था, उन्होंने जीविका तक कमाई। वे कभी इस उम्मेदवार के और कभी उस उम्मेदवार के गीत गाकर अपनी जेब गरम करते रहे। यह सब हुआ उस पवित्र नाम पर, उस पुनीत वेदी पर, जिसका नाम राष्ट्रीयता है। देवी स्वतंत्रता की पूजा इस विध की गई। भोले "वोटर" जब "वोट" देने जाते थे, तब तो जिस छल से, जिस प्रपंच से, जिस नीति से काम लिया जाता था, उसे देखकर हृदय बैठा जाता था। उम्मेदवारों के नाम तक का उच्चारण बेचारे बहुत से न कर सकते थे। वोट दे चुकने पर उनका बोझ उतर जाता था, उन्हे ऐजेंट रूपी मच्छरों से मुक्ति मिल जाती थी। विशाल भारत और उसकी इस अन्धी सन्तान

की कल्पना करके शरीर में रोमाञ्च हो उठता है। राम-राज्य की यह प्रजा आज स्वराज्य के लिए किस अवस्था को पहुँच गई है!

मत-भेद बुरी बात नहीं। वह उन्नति का लक्षण है। परन्तु उसमें राग-द्वेष, वैर-विरोध, छल-छिद्र न होना चाहिए। कौंसिलोंमें जाना देश की सेवा है, सम्मान उसका फल है न कि वह उसका ध्येय। मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई मातृ-भूमि के साथ खेल करना उचित नहीं। ऐसी दशा में उसके योग्यतम पुत्र को ही उसकी सेवा-शुश्रूषा करने दो। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, अछूत, धनी, निर्धन सभी उसके पुत्र हैं। इन संकीर्ण भावों को छोड़कर उसके सेवक चुनो। वोट की पवित्रता की रक्षा करो। चुनाव के स्वार्थपूर्ण नाटक का अन्त कर दो! ऐसी लीलाएँ खेलो, जिनका प्रभाव राष्ट्र की एकता, उसके गौरव तथा प्रताप के उत्कर्ष का कारण हो। तभी स्वाधीन भारत के दर्शन होंगे और तुम अपना राज प्राप्त कर सकोगे।

२७—काशी की शोभा

पतित-पावनी पुण्य-तोया श्रीगंगाजी के तट पर विश्वनाथपुरी काशी की शोभा अनुपम ही है। अविनाशी शङ्कर के त्रिशूल पर शोभित यह वही काशी है, जो चिर-काल से हिन्दू-धर्म, आर्य-संस्कार और संस्कृत भाषा की संरक्षिका रही है। भारत के कोने कोने से लाखों यात्री प्रतिवर्ष यहाँ आते और गंगा-स्नान से [illegible]

की कल्पना करके शरीर में रोमाञ्च हो उठता है। राम-राज्य की यह प्रजा आज स्वराज्य के लिए किस अवस्था को पहुँच गई है!

मत-भेद बुरी बात नहीं। वह उन्नति का लक्षण है। परन्तु उसमें राग-द्वेष, वैर-विरोध, छल-छिद्र न होना चाहिए। कौंसिलोंमें जाना देश की सेवा है, सम्मान उसका फल है न कि वह उसका ध्येय। मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई मातृ-भूमि के साथ खेल करना उचित नहीं। ऐसी दशा में उसके योग्यतम पुत्र को ही उसको सेवा-शुश्रूषा करने दो। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, अछूत, धनी, निर्धन सभी उसके पुत्र हैं। इन संकीर्ण भावों को छोड़कर उसके सेवक चुनो। वोट की पवित्रता की रक्षा करो। चुनाव के स्वार्थपूर्ण नाटक का अन्त कर दो! ऐसी लीलाएँ खेलो, जिनका प्रभाव राष्ट्र की एकता, उसके गौरव तथा प्रताप के उत्कर्ष का कारण हो। तभी स्वाधीन भारत के दर्शन होंगे और तुम अपना राज आप कर सकोगे।

२७—काशी की शोभा

पतित-पावनी पुण्य-तोया श्रीगंगाजी के तट पर विश्वनाथपुरी काशी की शोभा अनुपम ही है। अविनाशी शङ्कर के त्रिशूल पर शोभित यह वही काशी है, जो चिर-काल से हिन्दू-धर्म, आर्य-संस्कार और संस्कृत भाषा की संरक्षिका रही है। भारत के कोने-कोने से लाखों यात्री प्रतिवर्ष यहाँ आते और गंगा-जल में स्नान

कर चारों फल पाते हैं। यहाँ के विशाल प्रासाद उन वयोवृद्ध सम्बन्धियों से भरे रहते हैं, जो काशी-धाम में प्राण-परित्याग करने के लिए लालायित रहते हैं। अनेक धर्माचार्यों, धुरन्धर विद्वानों, प्रबुद्ध प्रचारकों, कवि-कोविदों तथा साधु-संन्यासियों से इसकी गोद समय समय पर सुशोभित होती रही है। यहीं डोम के घर में सत्य की हरिश्चन्द्री छटा छिटकी थी। यहींसे तुलसी ने अपनी कोमल-कान्त-पदावली और भारतेन्दु ने ललित नाटकावली में राष्ट्र-भाषा हिन्दी की नूतन धारा वहाई थी। यहीं महामना पण्डित मदनमोहन मालवीयजी ने विश्व-विद्यालय की स्थापना कर हिन्दू-जाति का मस्तक ऊँचा किया है।

भगवती भागीरथी मुड़कर मानों यहाँ विश्वनाथ के दर्शनों को बढ़ी चली आती हैं। उसी मोड़ पर कोई सौ फ़ीट ऊँचा पहाड़ी तट है, जिस पर इस पुण्य-दर्शन पुरी के गगन-चुम्वी प्रासाद, स्वर्गोपम-देव-मन्दिर और मनोरम घाट तीन मील तक भुवनमोहिनी छटा उपस्थित करते हैं। नौकारूढ़ होकर प्रातःकाल सामने से इसकी छटा का अवलोकन कीजिए। अपूर्व दृश्य दृष्टि आता है। सुरसरी की सलिल-धारा से उठती हुई सोपान-माला मानों स्वर्ग की नसेनी-सी बन जाती है। जल में निकले हुए चबूतरों पर आसन बाँधे ध्यानावस्थित भक्तों का मुखमण्डल पवित्र भावों की प्रेरणा करता है। "गंगे-गंगे" कहते हुए नंगे यात्रियों का सुन्दर स्नान बड़ा मनोहारी होता है। तृण-

निर्मित छत्रों के मण्डप में विराजमान त्रिपुण्डधारी पुरोहित वा माला-मण्डित साधु जहाँ-तहाँ निराली ही छवि देते हैं। स्थल-स्थल पर छोटे छोटे मठों में विराजमान अन्त की प्रतीक्षा में गंगा की ओर बद्ध-दृष्टि, उत्कण्ठ वयोवृद्ध श्रद्धा की प्रतिमा से प्रतीत होते हैं। स्वर्ण-द्युति कलश कन्धों पर धारण किये सीढ़ियों पर चढ़ती उतरती रमणियाँ पूजा की चलती फिरती मूर्ति-सी लगती हैं। मित्र-मण्डली के साथ विनोद-विहारी युवक, भ्रमण की भावना से आये हुए परिव्राजक, दूध-बताशे, फल-फूल, कण्ठी-माला और खिलौने बेचते हुए फेरीदार इधर-उधर विहार करते हैं। नादियों का निर्द्वंद्व विचरण और कमण्डलु-कौपीन-धारी साधुओं का विशाल परिवार यहीं देखने को मिलता है। नीले-नीले गगन-मण्डल के नीचे चन्द्रिका-धवल भवन, चित्र-विचित्र मन्दिर, उठते हुए मण्डप, तथा कलश कंगूरे और उनपर फहराती हुई तोरण-पताकाएँ आकाश से बातें करती हैं। इन सबका बहुरङ्गी दृश्य तट की शोभा को ऐसी रमणीय बना देता है कि वह साक्षात् शङ्कर की बाघम्बरी शोभा धारण कर लेती है और इनका जल में पड़ता हुआ प्रतिबिम्ब तो ऐसा जान पड़ता है, मानों गंगा के गुण गा-गाकर काशी ही स्वयं जल-क्रीड़ा कर रही हो।

काशी सदा से विद्या का केन्द्र रही है। आज वहाँ हिन्दू-विश्वविद्यालय वा बनारस-हिन्दू-यूनीवरसिटी के रूप में वाग्देवी

ने अपना भवन निर्माण कर उसे अपना चिरनिवास घोषित कर दिया है। प्रधान नगरी से कुछ ऊपर गंगा-तट पर स्थित तीन मील लम्बा और उतना ही चौड़ा यह विशाल विद्यापीठ भारत में ही नहीं, विश्व भर में अपनी समता नहीं रखता। इस पुण्य-स्थली में प्रवेश करते ही हिन्दुत्व का प्रभाव और धर्म की निर्मल भावना हृदय पर बलात् अपना अधिकार जमा लेती है। प्रवेश मार्ग पर लगी हुई दोनों ओर की पुलकित पादपावली और दूर ही से दृष्टि आती हुई सरस्वती के मन्दिरों की चोटियाँ, मानों हिन्दू-गौरव की उठती हुई पताकाएँ प्रतीत होती हैं। वहाँ के वायु-मण्डल में ही कुछ ऐसी सौरभ है, जो शरीर को छूते ही विशद विचार उत्पन्न कर देती है। छात्रालयों, विद्यालयों तथा आचार्यों के आश्रमों के पटमण्डप, कलश, कंगूरे भी मौन-भाषा में कुछ ऐसा सङ्केत करते हैं कि आर्य-जीवन की सरलता और उसके विचारोत्कर्ष का दृश्य एक साथ ही सामने आ जाता है। छात्रों वा आचार्यों की कोई विशेष वेश-भूषा नहीं, तो भी उनकी मञ्जुल मुद्राओं पर हिन्दू-जीवन की छाप-सी लगी जान पड़ती है।

आर्य-जाति के अतीत गौरव के चिह्न और पूर्वीयता की प्रतिमूर्ति यहाँ के छात्रालयों तथा विद्यालयों में प्राचीनता और आधुनिकता का गंगा-जमुनी मधुर सम्मिलन पद-पद पर प्रतिलक्षित होता है। "विद्या धर्मेण शोभते।" विद्या धर्म से ही शोभा पाती है का भाव यहाँ साकार विद्यमान है। साहित्य,

विज्ञान, ललित कला, प्राणि-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, भूगर्भ-विज्ञान, कृषि-विज्ञान, आयुर्वेद, राजनीति, आदि के लिए पृथक्-पृथक् विद्यालयों की योजना की गई है। साहित्य-विद्यालय का प्रधान भवन यद्यपि बहुत विस्तृत नहीं तथापि वड़ा ही भव्य है। वहाँ प्रायः नित्य ही देश-विदेश के विद्वानों के गम्भीर तथा पाण्डित्य-पूर्ण भाषण सुनने का सौभाग्य प्राप्त होता है। शिल्प-विद्यालय के द्वार पर विश्वकर्मा की मूर्ति के दर्शन करते ही भारतीय कला-कौशल का स्मरण हो आता है और भीतर प्रवेश करके वड़े-वड़े यंत्रों पर काम करते हुए भारतीय युवकों का परिश्रम और उनका शिल्प-कौशल देखकर आशा की एक ज्योति भविष्य के उज्वल गर्भ में चमकती दिखाई देती है। यहाँ के छात्र यूनीवरसिटी का आवश्यक सामान स्वयं ही वनाते और बाहर का भी काम करते हुए अध्ययन करते हैं। रात को बिजली का प्रकाश भी यहीं से होता है। यों तो कई एक विशाल छात्रालय हैं और बन रहे हैं, किन्तु महिला-छात्रालय यहाँ की विशेषता है। स्त्रियों की शिक्षा को भी उतना ही महत्व दिया जा रहा है जितना कि पुरुषों की शिक्षा को। इन्हें देख-देखकर तक्षशिला और नालन्द के मठ ध्यान में घूम जाते हैं। अभी अनेक विद्यालय तथा छात्रालय बनने को शेष हैं। जिस समय वे भी बन जायँगे और जैसा कि निश्चित है, विश्वविद्यालय के चारों ओर गंगाजी से निकालकर एक नहर बहाई जायगी, उस समय

इस तपोवन की शोभा इन्द्रपुरी से भी बढ़ जायगी, इसमें सन्देह नहीं।

पूज्यपाद महामना मालवीयजी जिस भवन में निवास करते हैं वह छोटा-सा, परन्तु बड़ा चित्ताकर्षक है; वह भुला देने की वस्तु नहीं। उनकी प्रेम और वात्सल्य-भरी बातें वहीं सुनने को मिलती हैं। वे एकादशी के दिन अपने श्रीमुख से जब गीता, उपनिषद्, पुराण आदि की कथा सुनाने बैठते हैं, तब उनके मुख से फूल-से झड़ते है। उस ऋषि-परिवार को देख-देखकर सतयुग की कल्पना सहज ही की जा सकती है। अपने आरोपित पौधे के फल-फूल छात्र-समुदाय को देख-देख उनका हृदय गद्‌गद् हो जाता और उनकी वचन-वारि-धारा से वे पुष्प-पल्लव भी लहलहाने लगते हैं। बात-बात और गात-गात में उनके भव्य भावों की मूर्ति वहाँ प्रतिलक्षित होती है। सच तो यह है कि काशी-धाम कहीं हो, पर उसका वर्तमान निवास विश्व-विद्यालय ही है, जहाँ पूज्यचरण मालवीयजी ने भारत का मस्तिष्क लाकर रख दिया है। वहीं शङ्कर के डमरू-नाद से काशी का गगन गुञ्जायमान होता है।

२८—बचपन

[सरलशैली में]

पूर्व विचार :—

(१) जीवन का सब से सुन्दर समय।

(२) पवित्रता की मूर्ति ; गोदी का लाल।

(३) सच्चरित्रता का साक्षात् स्वरूप ; Child is the father of man

(४) जाति और राष्ट्र का जन्मदाता।

वचपन जीवन का सबसे सुन्दर समय है। उसका मूल्य भी सबसे अधिक है। उसकी अबोधता, सरलता, प्रसन्नता अपने ही लिए नहीं, संसार भर के लिए सुखदायिनी है। इस अवस्था में वह स्वर्गीय सुख प्राप्त होता है, जो छल छिद्र और माया से परे है। उस समय भले बुरे का ज्ञान हमें नहीं होता और न हमारे हृदय में स्वार्थ की भावना ही होती है। अनुभव से उत्पन्न हुई कटुता वचपन में देखने को भी नहीं मिलती। वालक के भोलेपन में मनुष्य का सच्चा भाव भरा रहता है।

सुन्दर वालक को देखकर कौन मुग्ध नहीं हो जाता? उसके मुख पर खिले हुए फूल की सी प्रसन्नता झलकती है, जिसे देखकर दुःख और विषाद दूर भागते हैं। उसका धूल-धूसरित अङ्ग पवित्रता की मूर्ति होता है, जिसे देख-देखकर बड़े-बड़े अवधूत योगी और मुनि तक सिहाते हैं। दरिद्र से लेकर राजा तक की झोंपड़ियों तथा महलों में एक-सा आनन्द देनेवाली सूरत प्यारे बच्चे ही की होती है। माता गोदी में अपने लाल को लेकर त्रैलोक्य का राज्य भी तुच्छ समझती है, उस समय उसे इन्द्रलोक भी फीका जान पड़ता है।

सच्चरित्रता का तो साक्षात् स्वरूप ही बालक है। मनुष्य के सद्गुणों का असली दर्शन इसी अवस्था में होता है। इसी बीज से मनुष्यता का वृक्ष उत्पन्न होता है। बचपन ही वह शाखा है, जिसे जिधर चाहो मोड़ लो। जहाँ इस शाखा को उचितरूप से सँभाला जाता है, वहाँ यह सुन्दर होकर फलती-फूलती है और जहां इसकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता, वहाँ यह जंगली वृक्ष का रूप धारण कर अपनी कटीली डालें फैलाती है। एक अँग्रेज कवि का यह कथन कि "Child is the father of man" (बालक ही मनुष्य का पिता है) बिल्कुल ठीक है; क्योंकि बालक के ही गुण विकास पाकर मनुष्य का रूप धारण करते हैं।

बालक ही किसी जाति वा राष्ट्र के जन्मदाता हैं। उन्हींके चरित्र से देश और जाति का मस्तक ऊँचा वा नीचा होता है। इसलिए बचपन ही वह दशा है, जिसके सुधारने से भविष्य का कल्याण होता है।

२६—बचपन

[भावात्मक]

पूर्व विचार :—

(१) बचपन की स्मृति।
(२) भोली मुद्रा।
(३) बचपन का अर्थ।

(४) चिन्ता तुम्हारे द्वार से दूर थी ।
(५) बचपन का रोना ।
(६) मार्कण्डेय और बाल-मुकुन्द ।

बचपन ! तुम्हारी स्मृति कितनी प्यारी है । तुम्हारी गोद में न जाने क्या जादू था, जिसमें मैं लिपटा रहता था । सुख की वे घड़ियाँ, सरलता के वे विहार, कोमलता की वे क्रीड़ाएँ, अबोधता की वह मुसकान, आज स्वप्न की-सी बातें हैं । उस समय लोक मुझे प्यार करता था और मैं लोक-रञ्जन का खिलौना था ; वसुधा ही मेरा कुटुम्ब था, और मनुष्य ही मेरी जाति; प्रकृति का प्राङ्गण मेरा झूला और पक्षियों का कल-रव ही लोरियाँ थीं । मैं माँ के पलकों पर रहता और देव-दुर्लभ सुख पाता था । तुम्हारे घर मैं निर्द्वन्द होकर रहा । मेरी 'ठुमुक ठुमुक' चाल से बजती हुई 'पैंजनियों' ने कवियों की कल्पना को उत्तेजना दी । मेरी तुतली बोली में मधु-मिश्री घुलकर रह गई । "मैया मेरी कब बाढ़ेगी चोटी ।" के वात्सल्यरस में 'सूर' के पद सुधा-पूरित हो गये ।

मेरी भोली और मधुर मुद्रा देख चाँद सिहाता और किरण-रूपी डोरियों का झूला डाल गोद में उठाना चाहता था । मेरी दशनकान्ति पर तारे इतने मुग्ध होते कि हँसते-हँसते इधर-उधर बिखर जाते थे । मेरे ओठों की रेखा, कलियों के उर में वह गुद-गुदी उठाती थी कि वे फूल-फूलकर, फूल बन जाती थीं । आह !

क्रूरता की मूर्ति और शस्त्रों से सज्जित महायोधा भी मेरी ओर देख मोम बन जाता था; रत्नों की ज्योति से जगमगाते हुए भवन का स्वामी, एक जौहरी भी अपनी रत्न-राशि को तृण-तुल्य समझता था; राज-पाट खोये हुए विषण्ण-वदन राजकुमार के ललाट पर भी हर्ष की रेखा खिंच जाती थी; वीतराग मुनियों के मन में भी ममता हिलोर लेने लगती, और कवियों का मनोमयूर तो नृत्य करने लगता था।

तुमसे किस कुघड़ी में मेरा वियोग हुआ ? किस छलिया ने मुझे तुम से छुटाया ? इस जगज्जाल में पकड़कर अब मुझे बोध हुआ है कि तुम में क्या बात थी, जो सब पर मोहनी डाल देती थी। बचपन ! मैं तो समझता हूँ 'बच' का अर्थ है बचना, और 'पन' दशा का बोधक है, अर्थात् बचने की दशा। किससे बचने की दशा ? माया से, छल से, जाल से, प्रपञ्च से, जञ्जाल से, तुम्हारा यही अर्थ है न ? अवश्य यही है। अरे ! तभी उस समय 'बच्चा, बच्चा' कह कर लोग मुझे पुकारते थे। मैं उस समय सचमुच बच्चा था। उन नकटे लोगों ने ही मेरा भी बचपन छीनकर मेरी नाक काट डाली। अब तो मेरी आकृति ही बिगड़ गई, अब मुझ में वह मोहकता कहाँ ?

चिन्ता तुम्हारे द्वार से दूर रहती और दिन रात खेल कूद में मन लगा रहता था। वह जीवन ही खेलमय था। कभी छत पर जा चढ़े, तो कभी पेड़ों की डालियों पर; कभी खेतों की सैर

की, तो कभी मैदानों में गेंद-वल्ला जा खेला। हाथ पाँव निःशङ्क होकर चलते थे; न चोट की चिन्ता थी, न थकान का भय। भोजन के लिए जो मिलता था उसी को बड़ी रुचि से खाते थे। स्फूर्ति इतनी थी कि काम करने में आलस्य किसे कहते हैं यह जानते ही न थे। पौरुष की लालसा इतनी बढ़ी हुई थी कि काँटे कंकड़, खाई-खंदक, झाड़-झंखाड़, छत-कँगूरे, चोटी-टीले, जाड़ा-गर्मी, आँधी-ओले किसी का भय ही न था। साहस के कार्यों में अद्भुत आनन्द आता था। ठोकर लगी तो उठ खड़े हुए, मानों कुछ हुआ ही नहीं। हानि-लाभ का ज्ञान ही न था, राग-रोष को जानते ही न थे। भेद-भाव का नाम न था, सब अपने थे, पराये का पता ही न था। सो गये तो सबेरा ही हुआ, नींद उचटने का क्या काम? उस समय हम अवधूत थे। हमारे लिए राजा, रङ्क समान थे; हम अपने घरके सम्राट् आप थे।

जब हमारी किसी इच्छा की पूर्ति न होती थी, तो हम रो पड़ते थे। रोना ही हमारा वल था—हमारा हथियार था। शायद हम अपनी दशा पर उस समय खिन्न हो उठते थे, हम अपनी उस पराधीनता को भी सहन न कर सकते थे, जो हमारी ही कल्याण-कामना से प्रेरित थी। माँ की चढ़ी हुई भौहें भी उस समय हमारे लिए असह्य थीं, हमें उनके अन्तर-तल की स्नेह धारा दृष्टि न आती थी। हमारी निरङ्कुशता हमें अनुभव का ही अङ्कुश मानने मानने को वाध्य करती थी। हम उस स्नेह-शृङ्खला

से भी स्वतंत्रता पाने को छटपटाते थे। क्या हमारी उसी कामना का फल यह बढ़कर बन्धन है ? क्या उसीके दण्ड-स्वरूप हमें उस सुख से वञ्चित किया गया है ? क्या वास्तव में वह अपराध इतना गहरा था ? अपराधी का दण्ड-विधान करते समय भी उस की नीयत देखी जाती है। इस दृष्टि से तो हमारी वह भावना क्षणिक थी। हम तो इतने भोले थे कि अभी जिससे रुष्ट होकर अलग जा बैठे, थोड़ी ही देर में उसी से फिर आ मिले, अभी जिस बात पर रोते-रोते आसमान हिला दिया। एक खिलौना पाकर उसे ही भूल गये। गोस्वामीजी के मत में भी, "बरें बालक एक सुभाऊ। इनहिं न संत विदूषहिं काऊ॥" कदापि यह फल हमारी उस भोली भावना का नहीं। उसके लिए तो हम आज भी तरस रहे हैं।

सृष्टि के रंग-रूप देखकर हम भटक गये। हमारा बाल-स्वभाव उन्हें देख मचल गया और हमारी हठ हमें वहाँ से हटा लाई। परन्तु, मार्कण्डेय ऋषि की भाँति हमने यह लोक-लीला देख ली। अब हम जीवन-जलधि की तरङ्गों के थपेड़े खाते-खाते अधीर हो गये हैं। चारों ओर जल ही जल है, ओर-छोर का पता नहीं। हमारा ज्ञान रसातल को चला गया है; अभिमान चूर्ण हो गया है। भगवन्! हमारे अभिलाषा रूपी वट-वृक्ष के किसी पल्लव पर उसी बाल-मुकुन्द वेश में आ विराजिए। तभी बेड़ा पार होगा। हम सदैव ही तुम्हारी रङ्गस्थली के बालक हैं,

हमें वहीं खेलने दीजिए। वहीं हम आपको रिझाते, खिझाते, चिराते रहें।

३०—फलदार वृक्ष

[भावात्मक]

पूर्व-विचार :—

(१) सोना और सुगन्ध।
(२) विश्राम-दान ; अलौकिक सम्पत्ति।
(३) स्वाभाविकता और कृत्रिमता।
(४) सहवास की इच्छा।
(५) प्रभाव।

सोना और सुगन्ध दोनों का सुयोग यदि कहीं देखने को मिलता है तो फलदार वृक्षों में। भव्य-दर्शन और तत्काल फल कैसा मधुर सम्मिलन है! औरों को फल-दान देकर जीवन का फल इन्हीं को मिला है। धन्य हैं वे प्राणी जो इन्हीं का-सा परकाजी जीवन बिताते हों।

एक ही स्थान पर खड़े हुए, वर्षा, शीत और घाम सब कुछ सहकर श्रान्त पथिकों को अपनी छाया में विश्राम देनेवाले तरु-वर! तुम्हारे इस आजन्म अखण्ड तप की कहाँ तक प्रशंसा की जाय। तुम्हें देख-देखकर कितने हृदयों को शान्ति मिली ; तुम्हारे नीचे बैठकर कितनों ने सुख की घड़ियाँ बिताईं ; तुम्हारे

मधुर-फल खाकर कितनों ने सुधा-रस पान किया, तुम्हारी छाल उतारकर कितनों ने अपनी प्राण-रक्षा की; तुम्हारी पत्तियोंसे कितनों का उदर भरा, तुम्हारे ऊपर पत्थर फेंककर कितनों ने फल पाये और कितने तुम्हारे चरणों में बैठकर 'बुद्ध' बन गये, इसका तुम्हें कुछ पता है ? पर, तुम वैसे ही मुसुकराते हुए खड़े हो; तुमने तो औरों के लिए अपने को घुला ही नहीं, भुला भी दिया है। यह नम्रता और वह परोपकार ! तुम्हारी इस सम्पत्ति पर कुवेर का कोष निछावर !

पक्षियों के प्राणाधार ! मुझे भी अपनी अङ्क में शरण दो। मैं इस सभ्य-जगत् से ऊब गया हूँ। यहाँ से स्वाभाविकता प्राण लेकर भाग रही है। यहाँ तो मसालों की चटपटाहट, मिठाइयों की भरमार और षटरस भोजन के विविध प्रकार जीभ को चैन नहीं लेने देते। आँतों को इतना लादा जाता है कि वे बोझ के मारे दाँत दिखा जाती है, और ब्रुश तथा पाउडर (कूँची और मंजन) के मारे दाँतों की जड़ खोखली हो गई। शरीर ढकने के लिए तो हमने कीड़ा को मार-मारकर रेशम और पशुओं को नोंच नोंच कर ऊन निकाली है। वह सब कुछ करने पर भी बीमारियों की यह दशा है, कि डाक्टरों ने सुइयों से सारा शरीर छेद डाला है।

मैं तुम्हारे पास रहूँगा। पक्षियों का कल-रव मुझे ब्रह्म-मुहूर्त में उठा दिया करेगा। अहा ! उस समय नील गगन के नीचे

पत्तियों में छिपी हुई लाल-लाल नारंगियां; पके हुए और रस-मय आम, सुगन्धित तथा सुस्वादु केले; मन ही मन मुसुकराते हुए गुलावी सेब; अनूठे अखरोट और लाल लाल लीचियाँ, कहाँ तक कहूँ अमरूद, बेर, अनार, सन्तरे, खट्टे मिट्ठे नीबू, लूकाट, ककड़ी, खरबूज़, खीरा, तरबूज इत्यादि समय समय पर मेरे मन को गुलाब-सा खिला देंगे। मैं इनका आनन्द लूटूँगा। डरिए न, तोडूंगा नहीं। तुम जिन्हें छोड़ दोगे, उन्हींको प्रसादवत् उठा लूँगा। दाँतुन के लिए तुम्हारी डाडियों पर भी हाथ न डालूँगा। इस सात्विकी भोजन में दाँत तो यों ही मोती से चमकेंगे। आँख साफ़ साफ़ होंगी तो दाँत पहले साफ़ रहेंगे। सोने के लिए तुम्हारी पुरानी पत्तियों पर पड़ा रहूँगा, उन्हीं से शरीर ढक लूँगा। तुम तो तोतो से भी नहीं ऊबते हो, जो तुम्हें कुतरते ही रहते हैं, तो क्या मुझे अपने पास न बुलाओगे ?

तुम्हारी तपश्चर्या के प्रभाव से यदि मैंने कुछ सीख लिया तो मेरा जीवन सार्थक हो जायगा। उसमें सरलता, स्वाभाविकता और नियमितता आ जायगी। वहाँ मुझे मायाजाल से मुक्ति मिलेगी और मेरे विचारों में विमलता का वास होगा। मैं वहाँ तुम्हारे माली को खोजूँगा और यदि वह मिल गया तो जीवन्मुक्त हो जाऊँगा। तरुवर! इसीलिए मैं तुम्हें चाहता हूँ, मुझे इसी फल की इच्छा है।

३१—बादल

[भावात्मक]

पूर्व-विचार :—

(१) बादलों का अल्हड़पन, नयनाभिराम दृश्य।

(२) उपकार में अपकार।

(३) बल का दुरुपयोग।

(४) नीच प्रकृति।

(५) गुणों की ओर।

बादल! हवा पर सवार होकर तुम इतने इतरा चले। तुम धनी हो, बली हो, मानी हो, दानी हो, पर बावले हो, उतावले हो, अभिमानी हो, अज्ञानी हो। मैं तुम्हें बचपन से देख रहा हूँ। तुम्हारी लीला ही निराली है। बड़े होने पर लोगों में समझ आ जाती है, पर तुम अपने अल्हड़पन में ही मस्त हो। जब तुम्हारी अठखेलियों की ओर हम देखते हैं, तब तुम बड़े ही नयनाभिराम दृष्टि आते हो। शरद की मुक्ता-धवल चाँदनी में चन्द्रमा की किरणों के झूले पर झूलते हुए तुम, हमारे नयनों में झूलने लगते हो। उषःकाल में मरीचिमाली के कर-स्पर्श से तुम्हारी आभा कैसी कमनीय प्रतीत होती है। सांध्य गगन में तुम्हारा पीत-लोहित वर्ण और उसपर बिखरा हुआ सुरम्य रश्मि-जाल गुफा को लौटते हुए सिंह की उपमा बन जाता है। तुम्हारा पर्वतीय

विहार ब्रज के गो-चारण का दृश्य उपस्थित कर देता है। वृक्षों के शिखरों पर तुम मुकुट-से प्रतीत होते हो। पावस में इन्द्रचाप से अलङ्कृत तुम्हारा गात्र रसिकता से रेखाङ्कित चित्र-सा जान पड़ता है। तुम्हारे मस्तक पर चमकती हुई बिजली की झलक तुम्हारे उदग्र प्रभाव को प्रकाशित करती है। परन्तु, बादल! "Ali thatglittera is not gold" (सभी प्रकाशवान् पदार्थ सुवर्ण नहीं होते)।

जीवन-धन! तुम जीवन-वर्षा करके वसुधा में जीवन लाते हो। परन्तु, विवेक से काम कम लेते हो। तुम्हारी वर्षा का विशेष भाग मिलता है पाषाण-भूमि पर्वतों को वा जलराशि समुद्र को। बाग़-बग़ीचे, खेती-बारी पर तुम्हारी कृपा प्रायः यदा कदा, समय-कुसमय ही होती है और ऊषर पर मूसलधार गिराने में तो तुम्हारे 'गाँठ के पूरे और आँख के अन्धे' होने में सन्देह ही नहीं रहता। जहाँ तुम स्वयं पत्थर बनकर गिरते हो, भला वहाँ क्या लाभ उठाते हो? अपने प्राण जायँ तो जायँ, पर औरों का नाश हो, यही बात है न?

घनश्याम! तुम स्वयं काला रूप धारण करते हो, पर कालों पर बिजली बनकर गिरते हो। यह कहाँ का न्याय? इस जातिद्रोह में क्या लाभ? घुमड़-घुमड़ और उमड़-उमड़कर तम प्रलय मचाते हो। तुम्हारा अभिमान तुम्हारे बल के साथ बढ़ता है। इसमें तुम मुँह की खाकर भी लज्जित नहीं होते। जानते

हो कि 'निर्धन के धन गिरिधारी' फिर भी वही अकड़। बताओ तो, तुमने अपने हिमायती इन्द्र को लेकर भी व्रज के ग्वाल-वालों का क्या कर लिया था? उस समय तुम पानी पानी तो हो गये, पर डूबकर मरे नहीं। ध्रुव की तपस्या में ही तुमने विघ्न डालने में क्या कसर रखी थी? पर, वह ध्रुव ही रहा और तुम ध्रुव से ध्रुव तक दौड़ लगाकर भी अध्रुव ही रहे।

तुम्हें पता है तुम कहाँ जन्मे हो, तुम्हारा स्थान कहाँ है? इसी धरती पर। इसलिए धरती पर पाँव रखकर चलो। सूर्य के तेज से ऊँचे उठ गये तो क्या तुम्हारा स्वभाव बदल गया? तुम तो सदा से नीचे की ओर जानेवाले रहे हो। ऊँचे चढ़कर कुछ ऊँची बातें भी सीख लो। हवाई घोड़े पर क्या चढ़े, अन्धे बनकर उड़ते हो। तभी तो पहाड़ों से टक्कर खाकर तुम्हारे दाँत टूटते हैं। हवा के चक्कर में तुम ऐसे आते हो कि घनचक्कर बन जाते हो।

तुम अपने गुणों की ओर देखो। तुम महादानी हो; सब को देते हो; किसीको विमुख नहीं करते। परन्तु, पात्र-परीक्षा में अधूरे हो। चातक ने युग विता दिये, पर तुम्हारी अनन्य भक्ति से कभी मुँह न मोड़ा। परन्तु आज तक तुमने उसका दुख-मोचन किया? क्या अब भी उस दीन पर तुम ओले गिराकर अपनी कठोरता का परिचय नहीं देते? ऐसा क्यों? भक्तों की तो भगवान् भी सुध लेते हैं; परीक्षा की भी सीमा होती है।

तुम केले पर गिरो, तो कपूर बनकर संसार को महका दो। सीप के मुख में गिरो, तो जगत् को मोतियों से जगमगा दो, खेतों पर गिरो, तो पृथ्वी का अञ्चल धानी परिधान से लहलहा दो और भारतीय किसान प्रजा तुम्हारी छत्रच्छाया में राम-राज्य का अनुभव करने लगे। पर कब ? जब तुम्हारा संकल्प ध्रुव हो, तुम्हें शुभाशुभ का विवेक हो। इसीसे तो हम कहते हैं कि तुम बावले हो, उतावले हो।

३२--माँ का हृदय

माँ, तुम्हारा हृदय कितना कोमल है! फूल-सा ? नहीं माँ, वह तो काँटों में पला है, उसमें तो कीड़े बसते हैं। मोम-सा ? नहीं माँ, वह तो मक्खियों का मल है। मक्खन-सा ? नहीं माँ, बिलोते-बिलोते उसका तो मन ही मसल दिया गया है; वह शीत से कड़ा और धूप से ढीला हो जाता है। फेन-सा ? नहीं माँ, वह तो छूते ही बैठ जाता है। रेशम-सा ? नहीं माँ, वह तो कीड़ों का क़फ़न है। रोम-सा ? नहीं माँ, वे तो हवा लगते ही उड़ जाते हैं। राम की गुड़ियों-सा ? नहीं माँ, वे तो हाल ही बिला जाती हैं। माँ, तुम्हीं बता दो कैसा ? माँ कैसी हो, बता दो। ऊँ! हँसती तो हो, बात नहीं बतातीं।

अच्छा जाने दो। माँ, तुम्हें नींद नहीं आती ? तुम तो जब देखो तब जगती ही दिखाई देती हो। तुम्हारी गोद नहीं दुखती ?

तुम तो मुझे उसमें चढ़ाये ही चढ़ाये फिरती हो। तुम्हें घिन नहीं लगती ? तुम तो मेरे मैल-कुचैले अङ्गों को धोती-पोंछती ही रहती हो। तुम्हारी छाती नहीं पिराती ? तुम तो मुझे काम-धेनु की नाईं सदा ही दूध पिलाती हो। तुम्हें कोई चीज़ नहीं भाती ? तुम तो सब मेरे ही लिए रख छोड़ती हो। तुम्हारा ध्यान और कहीं नहीं जाता ? तुम तो मानों मेरे रोने ही को बैठी बैठी सुनती रहती हो। माँ तुम्हें कभी कुछ पीड़ा नहीं होती ? तुम तो मेरे सामने हँसती मुसकुराती ही रहती हो। माँ, तुम क्यों भूली भूली फूली नहीं समातीं ? तुम्हें कुछ धन नहीं चाहिए ? मुझे ही तुम रत्न समझती हो। माँ! मेरे तन की धूल से ही तुम कान्तिमती हो। मेरे मुखड़े पर तुम वलि जाती, और उसे चूमकर सव कुछ पा जाती हो। मैं तुम्हारा खिलौना हूँ माँ और तुम मेरी गोदी।

माँ, तुम मेरी गैया हो और मैं तुम्हारा बछड़ा। तुम तो प्रेम की पुतली हो। माँ, तुम्हारे पलक मेरे बिछौने हैं। तुम गैया-सी भोली हो, पर मेरी ओर किसीकी आँख उठते ही तुम बाघिनी से बढ़कर हो। दया तुम्हारे घर की भिखारिनी है माँ! तुम्हारे लिए तो मैं सदा अबोध हूँ। कुछ भी कर डालूँ, तुम्हें तैश नहीं आता माँ! तुम मुझे दुधमुँहा ही मानती हो। तुम्हारे लिए मेरा कोई अपराध अपराध ही नहीं, तुम सब को सुधारने की आशा

रखती हो। तुम्हारी ममता अथाह है माँ! उसकी तह में आशा की अनन्त धारा अबाध गति से वहती रहती है।

बहुत से सुहृद मिलते हैं माँ! पिताजी की आत्मा मुझ में रहती है; मित्र मन ही दे देते हैं? सखा सर्वस्व अर्पण करते हैं; सहोदर जीवन में ही मिला देते हैं; पुत्र पुत्री अनुराग की प्रतिमा ही हैं; पत्नी के प्राण ही पति में रहते हैं। परन्तु, तुम्हें कोई नहीं पहुँचते माँ! माँ, तुम्हारे हृदय में हृदय का भी निवास है। हाँ, याद आई माँ! ये सब तो पीछे के सम्बन्धी हैं। मेरे जीवन की पहली साँस तुम्हारी ही साँस थी। तुमने और मैंने तो एक ही नली के द्वारा महीनों साँस ली है। मेरा तुम्हारा जीव ही एक है माँ! फिर क्यों न तुम्हारा हृदय तुम्हारा ही हृदय हो? माँ, हृदय तो तुम्हारे ही पास है, और तो सब सहृदयता की भूलभुलैयाँ हैं।

अभ्यास के लिए लेख

१–घर के आनन्द । २–स्वच्छ वायु का उपयोग । ३-गाँव की पाठशाला । ४–छुट्टियाँ । ५–लोहा और उसका उपयोग । ६–समाचार-पत्र । ७–स्कूलके खेल । ८–व्यायाम । ९–हिन्दू त्यौहार । १०–भारत की ऋतुएँ । ११–ग्राम और नगर । १२–स्वच्छता । १३–समय-पालन । १४–पर्यटन । १५–गाय । १६–कोई यात्रा वा भ्रमण । १७–ताज महल । १८–किसी महापुरूष का जीवन । १९–दिल्ली । २०–वसन्त की शोभा । २१–कोई दुर्भिक्ष । २२–वृन्दावन के मन्दिर । २३–साहस । २४–दया । २५–परोपकार । २६–भारत के पशु-पक्षी । २७–संयुक्त प्रान्त के प्रधान नगर । २८–शिकार खेलना । २९–कोई अजायबघर (कौतुकागार) । ३०–स्वाधीनता । ३१–आलस्य । ३२–परिश्रम । ३३–फूल चुनना । ३४–पालतू जानवर । ३५–धन का उपयोग । ३६–खेती के औज़ार । ३७–ऋण लेना । ३८–बाग़ लगाना । ३९–सरलता । ४०–संतोष । ४१–जूआ । ४२–नशा करना । ४३–तम्बाकू । ४४–शराब पीना । ४५–आत्म-संयम । ४६–स्वावलम्बन । ४७–गानेवाली चिड़ियाँ । ४८–वायु-यान । ४९–कोई आँधी वा तूफ़ान । ५०–हौकी वा फ़ुटबाल । ५१–कबड्डी का खेल । ५२–सुसंग-कुसंग । ५३–कोई जलूस । ५४–विद्यार्थियों के कर्तव्य । ५५–छात्रालय में रहने के लाभ और हानियाँ । ५६–पढ़ने के आनन्द ।

५७–कोई रोचक कहानी। ५८–हिन्दू-विवाह। ५९–आम और अंगूर। ६०–मूढ़-विश्वास। ६१–गंगा जी। ६२–निन्दा। ६३–चोरी। ६४–तुम क्या व्यवसाय पसन्द करोगे। ६५–कोई समुद्र-यात्रा। ६६–रेलगाड़ी, मोटर और साइकिल की यात्राओं की तुलना। ६७–तुम्हारी प्यारी पुस्तक। ६८–कोई प्रदर्शिनी। ६९–युवकों के आमोद-प्रमोद। ७०–प्रारब्ध और पुरुषार्थ। ७१–भारतीय जलवायु की विशेषताएँ। ७२–पुस्तकालय। ७३–पुस्तकों का चुनना और उनका उपयोग। ७४–हवाई घोड़े दौड़ाना। ७५–कौंसिलों का चुनाव। ७६–नाटकों का भला-बुरा प्रभाव। ७७–किसी दृश्य का चरित्र पर प्रभाव। ७८–प्रतिज्ञा। ७९–आज्ञा-पालन। ८०–जीवन में अवसर का भाग। ८१–कोई पारितोषिक वितरण। ८२–उपन्यासों से लाभ-हानि। ८३–इतिहास और विज्ञान। ८४–दीनों की सहायता। ८५–कालिदास के किसी नाटक का कथानक। ८६–रामायण की लोकप्रियता। ८७–दरिद्र और अमीरों का जीवन। ८८–फ़ैशन की चीज़ें। ८९–अपनी पढ़ाई का सब से प्रिय विषय। ९०–स्वभाव का प्रभाव। ९१–आज और कल। ९२–प्रथाओं का अत्याचार। ९३–एकान्त जीवन। ९४–विज्ञापनबाज़ी। ९५–छापाख़ाना। ९६–सिक्के। ९७–पत्र-सम्पादन ९८–कवियों और लेखकों का जीवन। ९९–प्रकृति का निरीक्षण। १००–किसान और सिपाही का जीवन। १०१–शिक्षा का माध्यम मातृभाषा।

१०२–पर उपदेश कुशल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे।' १०३–संगीत, चित्रकारी और भवन-निर्माण-कला। १०४–पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।' १०५–'साँच बराबर तप नहीं, झूँठ बराबर पाप।' १०६–मनुष्य के अधिकार। १०७–सेवा-धर्म। १०८–बलिदान। २०९–अहिंसा। ११०–कृष्णावतार। १११–नागरिकता। ११२–डिस्टिक बोर्ड। ११३–म्यूनिसिपल बोर्ड ११४–ग्राम्य संगठन। ११५ सहकारी समिति (आपरेटिव बैंक) ११६–कृषि बैंक। ११७–जंगलों का उपयोग। ११८–स्वप्न। ११९–भारत में सिंचाई की रीति। १२०–समाचार पत्र। १२१–देश भक्ति। १२२–ग्रामोफ़ोन। १२३–हड़ताल। १२४–अच्छी आदतें। १२५–पंचायत। १२६–सेविङ्ग बैंक। १२७–तारे। १२८–बिना तार का तार। १२९–आतिथ्य। १३०–मनुष्य जाति के उपकारक।



Cover printed at the Allahabad Law Journal Press, Allahabad